सेनापति कर्ण

[महारथी कर्ण के जीवन पर आधारित अनुपम महाकाव्य]

प्रणेता

लक्ष्मीनारायण मिश्र

कि ता ब म ह ल

इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली

सर्ग-क्रम

सेनापति कर्ण

[महारथी कर्ण के जीवन पर आधारित अनुपम महाकाव्य]

प्रणेता

लक्ष्मीनारायण मिश्र

कि ता ब म ह ल

इलाहाबाद, बम्बई, दिल्ली

सर्ग-क्रम



मन्त्रणा

आज महिमा के सिन्धु व्यास देव ! दास मैं
मन्दमति, हीननर, कामना में कवि की
आया हूँ तुम्हारे सृष्टिसिन्धु के किनारे, जो
दर्शन, पुराण, काव्य और इतिहास का
उद्‌गम है, जिसकी अनन्त रत्न राशि से
उज्ज्वल है सारा विश्व, तुलना में जिसकी
हीनप्रभ होता है सदैव अलकेश भी ;
जिसमें प्रविष्ट होके और जिस चाह में

अमर हुए हैं कालिदास, माघ, भारवी,
और जो वे विश्रुत यशस्वि कविजन हैं,
जिनने बनाया भारती का भव्य गेह है।
हाय! हतभाग्य मन्दबुद्धि जन आज मैं
लेकर चला हूँ वही कामना हृदय में;
चाहता चढ़ाऊँ गन्धहीन पुष्प अथवा
उसमें लगा दूँ काँचखंड, जहाँ मणियाँ
ऐसी सोहती हैं कि ज्यों शरद निशीथ में
व्योम लसता है देव तारक समूह से।
जानता नहीं जो किस हेतु किस लाभ से
करने चला हूँ यह साहस असाध्य मैं।
किन्तु, हाय! मानव के मन की विडम्बना
कैसे मैं कहूँगा और कौन समझावेगा
मुझको, धरित्री रँगी जो पूर्व काल में
वीर जन शोणित से, खेलते हैं उस में
अज्ञशिशु। मायाविनी आशा इस जन को
ऐसे है हिलाती कि ज्यों घोर वर्षा काल में
सरिता हिलाती तृणजाल है सलिल में।
विश्व हँस देगा देख दास के प्रयास को,
साहस को आज इस क्षुद्रजीवी नर के।
किन्तु, करुणा के सिन्धु! सूत्रधर ज्ञान के,
कविकुल अग्रज, महार्हमणि विश्व के,

गाया था विजयगान भारत के रूप में
तुमने जो पुण्य वीरगाथा इस देश की,
उसकी विभूति इस दास के हृदय को
उद्वेलित करती है। रोक कैसे पाऊँ मैं
वेगवती धार वह, जो कि अन्तस्तल को
प्लावित करती है प्रभो! भावना के जल मे।
भिक्षा माँगता हूँ आज मुझ पर प्रसन्न हो
देव! दयादृष्टि कर संजय की दृष्टि दो
अथवा जगा दो उस सुप्त कल्पना को जो
पहुँचावे मुझको सहस्र पंच पूर्व के
उस कुरुभूमि में, मरे थे जहाँ विश्व के
वीररत्न, छोड़ कर अविचल कीर्ति को
नश्वर शरीरी हाय! नश्वर जगत में।
तेजोमय थे जो और विद्या, बुद्धिबल में
जग में अतुल थे, परन्तु महानिद्रा में
सोये थे अकाल में कराल काल गति से।
याद कर जिनको हा! याद कर जिन को
रोएँ फूटते हैं और नेत्र भर आते हैं,
क्योंकि वीरपूजा भाव दास का विभव है,
धर्म और निष्ठा, जो कि वाणी के विलास में
करना निवास चाहता है।

किन्तु भारती !
क्यों कर अनुग्रह करोगी घोर बन में
दस्यु को, जो हत्या हीनकर्म रत पशु था,
तुमने बनाया आदि कवि था निमेष में,
बाल्मीकि, जिसकी मनोज्ञ मृदु वाणी से
गूँज उठे तीनो लोक और सुधा स्रोत से,
रामचरितामृत की वाणी के अमृत से,
सिंचित हुआ था धराधाम, मरुभूमि ज्यों
होती अभिसिंचित है पावस प्रवास में !
और वह अन्धमति अज्ञ सब भाँति, जो
भार था धरा का, नर रूप पशु तुल्य था।
हाय ! जो निरक्षर था। भर्त्सना में नारी की
शोक से द्रवित और कातर हृदय से,
उसने पुकारा जब तुमको दयामयी !
विस्मय से देखा तब जग ने विमुग्ध हो
विश्रुत वरेण्य कालिदास महाकवि को,
कालिदास गौरव किरीट कविकुल का।
वीणापाणि ! छोड़ राजहंस पद्मबन को
कैसे तुम आईं उस शिशु की निहोर में,
जो कि जब पाँच वर्ष का था, मृततात के
शव पर बैठ कर, बीजमंत्र आप का
जपता था मुग्ध हो तुम्हारे शुभ ध्यान में ?

हे माँ ! महाभाग उस शिशु को बताओ तो
कौन स्वर तुमने सुनाया उस रात्रि में,
घोर उस रात्रि में हाँ, धन्य निज वीणा से,
और किस भाँति उस नैषध विधाता को
अमर किया था शुभे ! तुमने मुहूर्त में।
कितना करूँगा यशोगान अल्पमति मैं
सागर उलीचूँ किस भाँति अंजली से हा ?
जननी की भूरि अनुकम्पा क्या भला कभी
बालक बखानता है ? माँगता है वह तो
चाहता है जो जो, कभी रोता कभी गाता है
और हँसता है कभी माँ के अनुग्रह में।
हे माँ ! विश्ववंद्य, भव्य आशा इस लोक की,
एक बार मुझको दिखाओ वह रूप तो।
श्वेत पद्म आसन में, श्वेत कर में लिये
वीणापाणि ! वीणा बजती हो, स्वर जिसके
व्याप्त हो उठे हों भवलोक नभलोक में,
झूमता हो सारा विश्व मुग्ध जिस भाव में,
आज जिस भाव में, सुनाऊँ महागान मैं—
मैं भी तुम्हें माता उन चरणों में नत हो,
होते शतदल हैं नत जिनमें प्रफुल्ल हो।

कौरव शिविर में विषएण गत चेत से
बैठे हैं मनोहत, कराल इस रात्रि में,
कौरवेश, शल्य, कृतवर्मा, द्रौणि, शकुनी
और सब वीरजन, मौन नतशिर हो,
घेर गुरु द्रोणशव, जो कि कुरु पोत के
नाविक थे हाय! कुरु क्षेत्र महासिंधु में।
मन्द वायु बहता है बाहर शिविर के,
साँय साँय, सो रहीं दिशायें सब ओर हैं,
मानो सृष्टि जीवहीन किंवा गतिहीन है।
श्वेतकेश, धवलशरीर गुरुदेव का
घेर कर बैठे वीर, मानों नैन मन्द हों
ध्यानमग्न धर्जटि के चारों ओर शैल पे।

लेकर उसाँस कौरवेश, गिरिगेह से
चलती प्रवाहिणी है जैसे भीम वेग से,
आतुर हो बोला "नहीं जानता हूँ हाय! क्या
होगा परिणाम इस काल रण का कहूँ
कैसे? और सोचूँ किस भाँति कृतवर्मा हे
भाई! बतलाओ किस कौशल से छल से
मारे गये वृद्ध गुरुदेव हैं समर में?
जिनका पराक्रम था विश्रुत जगत में
धीर शैलराज सम, सर्वग्रासी अग्नि ज्यों

बसता था काल स्वयं जिनके निषंग में।
मारा किस कौशल से वैरियों ने उनको ?
सोच कर आज जलता हूँ उस भाँति मैं
जैसे जला नागराज खांडव दहन में।
तप्त रक्त तेल सम खौलता है देह में।
धर्म सुत धर्मराज, धर्म सम विश्व में
धार्मिक विदित है जो, हीन स्वार्थ वश हो,
वंचना की पामर ने। उच्च स्वर में कहा,
'अश्वथामा मारा गया' किन्तु मन्द स्वर में
'नर नहीं कुंजर' बढ़ाया और उसने
सत्य रक्षा हेतु। किन्तु, सोचो यही सत्य है,
कपट कुठार हो जो शत्रु के निधन में ?
किन्तु यह छलना सिखाई कहो किसने
मूढ़ उस वंचक को, भीरु धर्मसुत को ?
किसने लगाई अग्नि नैमिष अरण्य में,
रहता सुवासित जो यज्ञधूम गन्ध से ?
पांडवों के जन्म की कहानी जानते हो जो
विश्व जानता है, यह ग्लानि कुरुवंश की,
सोच कर आप मन अवनत होता है।
घोर यह लज्जा यह अग्नि की विभीषिका
उनको जलाती नहीं कैसे, सखे ! बोलो तो,
भूल कर लोकधर्म और राजधर्म को

तोड़ने चले हैं जो कि श्रुति के विधान को ?
औरस हों राजसुत वे ही राज्यपद के
होते अधिकारी यही श्रुति का विधान है ?
किन्तु, छोड़ लोक-लाज, धर्म, श्रुति आज्ञा को
पाण्डव निरत हुए, प्रेरणा से किसकी,
काल रण-रंग बीच राज्य प्राप्ति हेतु से ?
हाय रे ! विडम्बना से किसकी समर में,
काल शरसेज पर देखो आज हैं पड़े
कुरुकुलशेखर, हमारे पितामह जो
विश्व विजयी थे, थे जितेन्द्रिय जगत में,
सूख गया जिनकी कराल शरज्वाला से
गौरव समुद्र भृगुराम का समर में।
देखो ! हम सब को निराश्रित अवनि में
छोड़ चले द्रोणाचार्य वंचना से किसकी ?
वंचना से किसकी ? बताओ, जानता हूँ मैं
जीवन विनश्वर है, नश्वर जगत है,
रात, दिन, सृजन, प्रलय का चक्र विश्व में
चलता निरंतर है। मेरे भाग्य दोष से
किंवा होनहार से यशस्वी कुरुवंश की,
अथवा तुम्हारे उस वंचक की माया से,
पांडव विजय यदि पावें काल रण में,
और यह गौरव किरीट कुरुवंश का

गिर पड़े चरणों में उनके, परन्तु क्या
मिट सकती है कभी कालिमा कलंक की ?
जब तक रहेगा यह विश्व, दिन रात में
समुदित होंगे दिननाथ और चन्द्रमा,
जब तक धरा में राजनीति, श्रुति-साधना
चलती रहेगी, लोग साँस लेंगे जब लौं,
मेघ बरसेगा और पावक जलावेगा,
तब तक अनीति, दस्युनीति यह कृष्ण की,
स्वार्थ साधना को राजनीति जो बताती है,
कालअग्नि रूप में निरंतर जगत में
जलती रहेगी, और लपटों में उसकी
अंकित रहेगी दुःखगाथा कुरु वंश की।
किन्तु, अपवाद यह घोर अपवाद भी,
धूमपुंज तुल्य सखे ! अम्बर प्रदेश में
फैलता रहेगा सब ओर, पुण्य विश्व के
मंगल विधान चिर तमसाकुल होवेंगे !"

मौन कुरु-राज हुआ शोक और क्षोभ से
काँप उठा। काँपे सब वीर वहाँ बैठे जो।
शीतल विलेपन ज्यों दग्ध के शरीर में
बोला कृतवर्मा, "कुरुराज ! किस हेतु हो
आकुल यों होते तुम राजकुल सर के

राजहंस, गौरव किरीटी तुम विश्व के?
माना यदुभूषण विपक्ष में तुम्हारे हैं,
सारथी बने हैं स्वयं पार्थ के समर में,
शस्त्रहीन करते सहायता हैं पार्थ की,
शस्त्रहीन, सोचो यह माया है कि सत्य है?
पहुँचा जब रण का निमंत्रण सुधर्मा में
पार्थ का तुम्हारा एक संग, कहूँ कैसे मैं
सारा यदुवंश किस भाँति पूर्णरूप से
उथल पुथल हुआ, अस्तव्यस्त लोग थे,
कोलाहल पूर्ण नगरी थी अर्द्धरात्रि में,
आ रहा था सिंधु मानो लीलने को उसके।
राजपथ, विपणि समूह, वाटिकाओं में,
कौतुक निकेतनों में, देव मंदिरों में जो
जनरव हो रहा था गूँजता था व्योम में,
कैसे कुरुश्रेष्ठ! किस भाँति कहूँ तुमसे?
चाहते मुरारि थे धनंजय के पक्ष में
सज्जित हों वीर यदुवंश के समर में
और कुरुभूमि घोर रण की तरंगों में
झंझा बनें, बोरें कुरुदल को अतल में।
शूल, यदुवंशियों का शूल जानते हो जो
करता विदीर्ण शिला-खंड; गज केशरी,
स्पर्श मात्र से ही, विष जिसका कराल है,

गिरते हैं; काल अग्नि मानो जीवमात्र को
भस्मीभूत करता है। लेकर वही सखे!
'एकमात्र शस्त्र उस कालरूप शूल को
जीवन मरण मोह छोड़ रणसिंधु में
कूद यदुवंशी पड़ें चपल तुरंगों पै,
शून्य पथ वज्र चलता है जिस भाँति से।'
माधव के शब्द, उस मोहमयी वाणी को
क्योंकर कहूँ मैं सखे? गूँज रहे कानों में
आज भी वे गूँजे जिस भाँति थे सुधर्मा में,
और जिस भाँति मंत्रमुग्ध सब लोग थे,
पन्नग ज्यों झूमते थे नाद के प्रभाव में।

देकर निर्देश सात्यकी को सभा मंच में
बैठे यदुनन्दन, ज्यों विजयी, समर में
करके पराजित विपक्षी दल, हर्ष से
बैठता है रथ में, विराम हेतु मौन हो।

कहने लगा यों तब सात्यकी अधीर हो
'तो फिर हे सभ्यजन, विश्रुत सुधर्मा के,
जैसा कहा वीर श्रेष्ठ कृष्ण ने है आप से,
हम सब सज्जित हों एकसंग युद्ध को

और कुरुभूमि में दिखावें कुरुदल को
यदुकुल शौर्य, हम विश्व विजयी हैं जो
अड़ सकता है कौन शूल के प्रहार में?
शूल के प्रहार में, कहो तो जरासन्ध की
झंझाक्षुब्ध सिंधु की तरंगों सम व्रज में
आयी जब वाहिनी, डुबाने यदुवंश को,
बंदीकर यदुकुल रत्न को समर में
यादवों को मार कर, मार कर कृष्ण को,
लेने प्रतिशोध मघवा के यज्ञ भाग का,
जिसको किया था बंद यदुकुलरत्न ने,
पुण्य व्रजभूमि से भगाई आर्यकुल की
मिथ्या यज्ञ भावना थी, मिथ्या इन्द्र-पूजा को
जब था हटाया स्वयं भोग यज्ञ भाग को,
वासव का भाग था जो। शुभ्र आत्मज्ञान की
ज्योति से प्रकाशित किया था व्रजभूमि को;
जैसे कृष्ण रजनी में फूट कर व्योम में
धूमकेतु करता प्रकाशित दिगंत है।
चौंक उठा मगध महीप यह देख के।
धर्म की विडम्बना में अन्धमति क्रुद्ध हो
दौड़ा व्रजमंडल को पादाक्रान्त करने।
लोहित हुई थी जहाँ यमुना तरंगिणी,
याद करो वीरो! जहाँ नील उर्मिमाला ने

धारण किया था रेख रंजित सुहाग की।
कैसे उस सागर को पार किया तुमने ?
और किस भाँति उस प्लावन के वेग को
रोक कर तुमने बचाया व्रजभूमि को
और वृष्णि वंश की विभूति ? वीरो बोलो तो
भूले जो नहीं हो ? जहाँ भास्कर भी आप ही
मन्द हुआ देख कर स्वर्ण की पताकाएँ,
स्वर्ण रथ, स्वर्ण दंड, स्वर्णमूठ असियाँ
स्वर्णरत्न निर्मित निषंग, धनुराजि से
फूटती थीं आँखें, कालअग्नि ज्यों प्रलय की
जलती थी चारों ओर, घोर मेघमाला सी
भीमवेग, भीमनादपूर्ण गजराजि थी;
वायु वेग वाजि राजि, मानो व्रजभूमि में
आई थी प्रलय की घोर बेला वीर वृन्द हे !
रोकता है जैसे शैलश्रृंग वायु वेग को,
याद करो वीरो ! उस भाँति व्रजभूमि में
रोकी जरासंध की चमू थी, वीरदर्प से
शूल के सहारे, वृष्णिवंश वीरो ! तुमने।
स्पर्श कर जिसका कराल विष क्षण में
कितने गिरे थे गज, अश्व और सेनानी
क्यों कर कहूँ मैं भला, जानते हो तुम तो।
एक कुरुराज क्या समस्त इस विश्व से

लड़ना पड़े तो सत्य सत्य कहता हूँ मैं,
प्रज्वलित दावानल जैसे वनराजि को
भस्म करता है, शूलहस्त यदुवाहिनी
आगे बढ़े, काँपे यह सारा विश्व भय से।
फेंक असि, विशिख पिनाक रख वृक्षों में,
वीर बनते थे जो बटोरें कुश समिधा।
क्या है कुरुराज जरासंध से पराक्रमी?
'धन्य धन्य, साधु साधु' सारे सभासद जो
बैठे उस मंडप में एकसंग स्वर में
बोल उठे। काँपी सभा मानों शेषफन के
काँपने से काँपी धरा काँपा सिंधु, द्वारिका
काँपने लगी यों, क्षुब्ध सिन्धु की तरंगों के
लगने से सैकत किनारा काँपता है ज्यों।

तत्क्षण ही आये बलदेव हत्‌चेत से
किंवा हतजीव से वे, विस्मय से भय से
चौंक कर चारों ओर देख कर वेग से,
देख कर माधव को, 'क्या है यह कैसा है
कैसे सब लोग किस हेतु यहाँ आये हैं,
और किस हेतु यह कोलाहल होता है?
गूँज रहे मंदिर प्रतिध्वनि से जिसकी
भाग रहीं गायें चौंक सागर की ओर को?'

क्षण भर मौन, सब मौन सभ्य जन वे
स्तब्ध देखने में रहे यदु दलपति के।
वस्त्र परिधान मात्र गात्र पर जिनके
शोभित था सूत्र, मानों गिरि के शिखर से
नीचे को उतरता था स्रोत श्वेतजल का।
अधरों में हास्य सुधा, धार विष आँखों में
देख पड़ी माधव के; चंचल वे, उनके
ओंठ हिले, शब्द किन्तु आयें पल दूसरे
रोक कर मैंने कहा 'क्या है यह कैसा है
और किस हेतु यह कोलाहल होता है?
पूछते हो किससे कुलश्रेष्ठ दलपति हे!
पूछते स्वयं हो, तुम्हें लज्जा नहीं आती है?
वीतराग, वीतस्पृह वंश के विधान से
जब से हुए हो तुम कैसे कहूँ हाय रे!
विश्व जानता है यदुगिरि के शिखर हो,
कुलपति तुम्हीं हो इस कुल के, कहूँ मैं क्या,
जानते नहीं हो किन्तु क्या है और कैसा है?
कैसे मैं कहूँगा और कौन कहे तुमसे?
देखो कहीं गोधन न डूबे सिन्धु जल में,
देखो कहीं वन्यपशु आ गये हों खेतों में।
जाओ क्या करोगे यहाँ माधव यहीं तो हैं;
हानि, लाभ, कीर्ति अपकीर्ति इस कुल की

जो हो, तुम्हें क्या है ? सौंप सारा भार भाई को
मानों निर्वाण पद पा लिया है तुमने।
किन्तु आत्मशान्ति कहाँ कर्महीन जन को ?
देवकुल वंद्य देवराज जिस भाँति है
यदुकुल वंद्य तुम, विदित जगत में
दलपति हो महिमामयी विश्रुत सुधर्मा के
तुम तो, परन्तु क्या मैं पूछूँ आज तुमसे
कैसा अविचार यह ? किस अधिकार से
कृष्ण चाहते हैं जो सदैव वही होता है ?
अनुज तुम्हारे हैं परन्तु क्या इसी से वे
शासन करेंगे यदुवंश का, सुधर्मा का ?
शासन यहाँ तो नहीं जनमत शक्ति है।
कृष्ण, कृतवर्मा और सारे सभासद ये
बैठे जो सभा में, एक भाव एक सम हैं,
जैसे ग्रह मंडल के ग्रह हैं जगत में।
बोलो हे सभाजन ! मैं पूछता हूँ तुमसे
दलपति हीन दल निर्णय करेगा क्या ?
क्या यही सनातन विधान यदुवंश का ?
विज्ञजन आज पड़े हाय ! किस मोह में ?
हाय ! किस मोह में कहो तो, कहूँ आज मैं
आओ हम लौट चलें फिर उस देश को।
आर्यकुल ईर्ष्या और विग्रह की अग्नि में

हम क्यों जलें यों भला सोच देखो मन में ?
पाण्डव जयी हों या कि जीतें कुरुराज ओ,
जो हो, कहो वीरो ! किस लोभ किस लाभ से
शोणित बहायें हम हाय ! उस भूमि में,
हाय ! उस भूमि में विधर्मी जहाँ हम थे,
हम थे अनार्य जहाँ, हाय ! जिस देश से
निर्वासित आये हम सागर के बीच में,
रक्षा करने को यदुवंश के विधान का ?
आर्यकुल ईर्ष्या और द्वेष की विभीषिका
छू न सके वीरो ! हम लौटें उस देश को।
आओ हम लौट चलें फिर उस देश को,
बहती जहाँ हैं मंजु तटिनी शिखर से,
फूलते हैं फूल, मधुचक्र जहाँ वृक्षों में,
रहता सदैव जहाँ निस्वन वसंत है,
कूकती हैं कोकिलायें, केकी कंठ रव से
गूँजता जहाँ है गिरि व्योम वन, वामायें,
केसर की कान्ति और केसर की गंध से,
आमोदित करतीं गेह उपवन सर हैं।
सुनते यहाँ हैं जिस भाँति देव लोक को
आमोदित करती हैं सुरांगनायें, जाने ये
आर्यजन, कैसा वह लोक वैजयंत है
कामना में जिसकी तपस्या करते हैं ये

यज्ञ करते हैं, व्रत, धर्म भाँति भाँति के,
हेतु परमार्थ रूप स्वर्ग की विडम्बना?
किन्तु, यदि सत्य ही जो ऐसा रूपगुण है
स्वर्ग का; तो वीरो! सोच देखो किस अंश में
हीन वह लोक है प्रतीची प्रान्त मेरु का
छोड़ जिसे आये हम? छोड़ उस स्वर्ग को
कामना करें क्यों यदुवंश के निधन की?
वंश के निधन की, इसी से कहता हूँ मैं,
आओ हम लौट चलें फिर उस देश को।
दोषी कुरुराज किस बात में तुम्हारा है?
क्या किया सुयोधन ने, वैर कब तुमसे,
बदला चले हो तुम लेने विष शूल से,
वीरवरो! बोलो किस पाप अपमान का?
क्या कहेगा विश्व यह देख यदुवंश की
लोकनीति, राजनीति मेरे सखा! भाई हे!
सोच देखो आप तुम! जो कहा है कृष्ण ने
और जो कहा है अभी सात्यकी ने तुमसे
मानता हूँ मैं भी, तुम वीरो! विश्व जय की
शक्ति रखते हो, और साहस जगत में
ज्ञात है तुम्हारा! शूल विष की लपट में
एक क्या अनेक कुरुराज भस्म होवेंगे।
जानता हूँ मैं भी। किन्तु, जानता नहीं हूँ मैं

हेतु वह, हाय ! किस हेतु कुरुराज से
लड़ने चलोगे तुम लाँघ विन्ध्यगिरि को,
पार कर रेवा और दुर्गम अरण्य को ?
कारण कहो तो इस विग्रह का, युद्ध का ?
हरण किया है धन, गोधन तुम्हारा क्या,
अथवा हरा था यहाँ उसने सुभद्रा को ?"
हिल उठे सभ्यजन, कौंधीं यथा चरणदा,
अग्निवर्ण नेत्र घूमे चारों ओर रोष से।
सिहर उठा हो व्योम जैसे पर्व आँधी के।
साँसें चलती थीं जहाँ सर्प फुफकार सी,
स्वेद विन्दु मोती तल्य झलमल होते थे
जिनके ललाट, अग्रनासा, कंठ देश में।
कैसे कहूँ, कैसे नेत्रचक्र द्रुत गति से
चलते थे चक्र, विश्वचक्र नाश करने।"
मौन कृत-वर्मा हुआ।

मर्मभेदी साँस ले
बोला यों सुयोधन सखेद धीर वाणी में।
"भाई ! क्या कहूँ मैं और आज किस योग्य हूँ ?
रक्षक बने हो तुम मेरी कालरात्रि के।
धो सकोगे किन्तु क्या लिखा है जो विधाता ने
मेरे हीन भाल में ? नियतिचक्र मेरा जो

घूमता रहा है प्रतिकूल, पलटेंगे क्या
गति उसकी, जो कहूँ मैं भी सदा दास सा
प्रस्तुत रहूँगा धन, धर्म, प्राण देने को
सेवा में तुम्हारी ? यह आशा तो दुराशा है।
हाय ! भाई कैसे कहूँ चाहता हूँ कितना,
कितना ऋणी हूँ मैं, तुम्हारे उपकार का
बदला चुकाता कभी, किन्तु देखता हूँ मैं
अन्त इस जीवन का, अन्त इस युद्ध में।
कौन जानता था हाय ! कुरुकुल उग्र वे
मृत्युंजय, भीष्मव्रती भीष्म इस रण में
आ गिरेंगे, पृथ्वी पर बाणों से शिखंडी के.
भाग्य की विडम्बना से ? नारी है कि नर है
राह वह बोलो सखे ! कुरुकुल रवि का ?
अंजन से रंजित वे आँखें पद्म-दल सी,
और वह वेणी गुँथी पीठ पर उसके,
कंचुकी विलोक वह, देख चन्द्रहार को
कौन कह देगा वह नारी नहीं नर है ?
छलती मरीचिका है जैसे मरु भूमि में
पथिक पिपासाकुल, वैसे छला नीच ने
माया जाल डाल इस वंश की विभूति को।
देवव्रत धर्मधीर हैं वे, भला अबला
मारते कभी हैं महावीर भूल कर भी ?

देखा एक दृष्टि अरे ! नारी पार्थ रथ में
फेर लिया आनन तुरन्त, कब नारी को
मार सकते थे कहो विश्ववन्द्य वीर वे ?
और वे पड़े हैं आज काल शरसेज में—
काल शरसेज में पड़े हैं बन्धु आज वे,
विस्मय जगत के वे, देव, नर, दैत्यों के,
मन्मथजयी वे योगिराज सम धीर वे।

कामिनी की कामना न डोली कभी जिसके
मानस में, बाहु बल्लरी में पद्मिनी की रे !
बाँधा गया जो न कभी, चन्द्रमुखी मुख की
आभा से न, दीप्त हुई आभा पंचबाण की
जिसके लिए, न जाना जिसने कि कैसा है
अनुभव सुधाधर का, उपल उरोज का,
कैसे तीक्ष्ण नेत्रशर होते मृगनैनी के,
बेधते अचूक नरसिंह, योगि जन जो।
हाव, भाव, मादक कटाक्ष, षोडशी के वे,
वासंती वसंत में ज्यों, यामिनी शरद में
पूर्णशशि, कोकिल की कूक अर्द्धनिशि में ;
व्याप्त करते जो मन प्राण क्षण भर में,
व्याप्त करते जो यह सृष्टि मधुमद में
होती है द्रवित यों, शिला ज्यों शिलाजीत की।

कहते इसी से कुसुमायुध अजेय है,
जीता जिसे केवल था शंकर ने तप से,
और जिसे जीता नर देही देवव्रत ने।
देवदेही किम्वा दैत्यदेही और कौन है
भाई! इस विश्व में, लगाई नहीं जिसने
फाँसी स्वयं आप, आत्मरस में विभोर हो,
विषधर नाग तुल्य मानिनी की वेणी की?

और वे ही जा पड़े जो देखो कालमुख में
नीति से, तुम्हारे कुलभूषण की नीति से।
माधव मुकुन्द, जो तुम्हारे दिव्य चक्षु हैं,
देखते हैं स्वार्थ साधना जो शतनेत्र से,
जान गये वे जब पितामह अजेय हैं,
साध्य नहीं पार्थ का जो मारे उन्हें रण में,
और यदि वन्द्य कीर्ति लड़ते रहेंगे जो
पूरी हो सकेगी नहीं पांडवों की कामना।
कौशल से काम लेना जानते मनस्वी हैं,
और वे मनस्वी हैं तभी तो शिशुपाल को
मारा था उन्होंने, सभा मध्य जो निरस्त्र था,
तर्कपूर्ण वाणी-युद्ध करने उठा था जो
जानता नहीं था जो कि उत्तर में तर्क के
चक्र चलता है। वह दृश्य इन आँखों में

घूमता है बार बार, उसने कहा था जो
'योग्य क्या यहीं है जहाँ पूज्य गुरुजन हैं
शस्त्रपूज्य शास्त्रपूज्य आयुपूज्य जन ये
हीन हो रहे हैं आज मध्यम की पूजा से
कैसे है अनर्थ यह।'

तत्क्षण ही व्योम में
फूटी अग्नि आभा, झँपी पलकें, खुली ज्यों वे
देखा भूमि लुंठित था शीश शिशुपाल का।
काँप उठी सारी सभा विस्मय से भय से,
नीचे झुका शीश धर्मधारी धर्मराज का।
बात बिगड़ी थी, जो न होते पितामह तो
निश्चय था होती क्रान्ति और रक्तधारा से
बुझती हविष्य अग्नि। साम, दाम, भेद से
शान्त कर क्रोधानल, शिष्टाचार वारि से
बोध नृपवर्ग का किया था यज्ञभूमि में
तात देवव्रत ने, बचायी धर्मसुत की
लोकलाज, धर्मलाज, बदला उसी का तो
उनको मिला है इस रण में शिखंडी से।
देखते नहीं हैं कभी नारी ब्रह्मचारी वे,
विश्व में विदित, यह निष्ठा उनकी जो है।
भीष्म व्रत भीष्म का जो न डोलेगा जगत में

चाहे डोल जाये धरा, सूर्य, शशि डोलें ये,
डोले ध्रुवलोक, ध्रुव धारणा जो उनकी
डोलेगी कदापि नहीं। कौशल रचा गया,
और वह क्लीव द्रोणद्रोही सुत निन्द्य रे!
निन्द्य जिसका है जन्म, आचरण निन्द्य है,
मर न गया जो हाय! माता के उदर में।
धारण किया था वह गर्भ किस लोभ से
जननी अभागिनी ने? ग्लानि नरवंश की
पैदा किया, लाभ क्या था लज्जित हुई न जो
प्रसव किया क्यों सुत ऐसा नारि वृत्ति का?
नारि वेष, आभरण, भूषण में हाय रे
मिलता जिसे है रस जीवन जगत का।
किन्तु, दोष क्या है जननी का किस भाँति से
जान सकती है वह क्या है उस गर्भ में,
कालकूट, किम्वा सुधा, लोहा है कि सोना है?
आशा तो सदा ही उसे रहती मनोज्ञ है
होगा शिशु वीर गुणी और इस लोक की
गुणिजन गणना में जिसकी सुकीर्त्ति से
धन्य होगी जननी की यातना प्रसव की,
धन्य होगी कोख वह। किन्तु, दुर्दैव का
कैसा है विधान यह क्रूर सखे! देखो तो
होते उसी गर्भ से हैं निन्द्य जन विश्व के,

कुलटा सुताएँ और पापी सुत माता का
पीते वही पय जो कि पीते गुणी जन हैं,
पीते महावीर, महादानी, महाज्ञानी जो
योगि जन जीवन मरण हीन जग में।
और पापियों का गोत, हिंस्र नरदेही जो
काँपती धरा है पाप वासना से जिनकी,
दंशक वे, विषधर नाग नरयोनि में
बास है हलाहल का जिनके हृदय में,
वंचक वे, लोभी परदार, परवित्त के
और अपकारी वे अकारण जगत के,
मिथ्या जिनकी है नीति, हिंसा वीरव्रत है
ढोंग जिनका है धर्म, श्वेत पट सत्व है,
शस्त्र वज्रसार बना जिनका कपट का,
पीकर पले हैं जननी का वही पय तो।
धिक् शतबार उस पय को, प्रसव को।
लोक कहता है पुण्यहीना पाप-पंकिला
होगी वह माता भी अवश्य, सुत जिसका
घात करता है जो कि वंचना से छल से,
सम्मुख समर में निरस्त्र रहता है जो
बनता उदार, त्यागी, दंभी किन्तु निशि में
वीर बनता है वह, रौरव शरीरी रे,
घात कर सोये हुए वीर प्रतिद्वन्द्वी का।

नाम से तो मानो अवतार वह राम का
किन्तु कर्म से है दस्युराज दैत्यराज जो,
खलती जिसे है कीर्ति प्रतिभा विपक्षी की,
फूटती हैं आँखें, कभी तेज देखता है जो
निन्द्य वह श्वान जीवी मानी नरसिंह का।
दानवी प्रवृत्ति नररूप उस दैत्य की
करती कलंकित है माता के उदर को।
किन्तु, उस निन्द्य को तो मानो आत्मलाभ की
आत्मज्ञान भावना की होती प्राप्ति, हाय रे!
निहत करे जो वह सेज में विपक्षी को,
सो रहा हो सुख में जो भूल बाधा भव की,
भूल कर शत्रु भीति, दिव्य नेत्र जिसके
बन्द रहें जैसे अरविन्द चन्द्र आभा में!
काली अलकों से घिरा चन्द्रानन जिसका,
जननी का लाभ और लोभ कामिनी का हो।
पाप मति पाप गति उस यमदूत की
डूबती नहीं जो जननी की अश्रुवारि में,
और जलती जो नहीं यौवन प्रभात में
विधवा अभागिनी की दाहक विपत्ति में,
कहना ही होगा सखे! क्रूर कर्म रेखा की,
क्रूर दुर्दैव की विभीषिका जगत में
जलती निरन्तर है।"

भीम ध्वनि पौंढ्र की
गूँज उठी बेधती धरा को और व्योम को,
चौंके सब वीर, चौंकी सृष्टि वज्रनाद से,
फूट पड़ें ज्वालामखी किम्वा भूमिकम्प हो
काँप उठे सारी सृष्टि त्रस्त प्राण भय से।
"देता है चुनौती भीमसेन कुरुदल को"
बोला द्रोणि, "लाओ बनूँ दूत मैं प्रलय का।
लाओ रथ, लाओ तूण, भीषण पिनाक रे!
आज मैं पिनाकी बनूँ और इस सृष्टि को
भेजूँ जो रसातल को फूँक अग्नि बाणों से,
बोरूँ इसे छोड़ वरुणास्त्र आज रण में;
मेटूँ अपवाद पांडवों का और कृष्ण का;
भोगे राज वासना विपक्षी यमलोक में।
एक संग भेजूँ धृष्टद्युम्न धर्मसुत को
संग संग पार्थ, कृष्ण, भीमसेन, सात्यकी,
और उस विश्व ग्लानि युवती शिखंडी को,
द्रुपद सुता का पद ले, जो उस लोक में
रानी बने पाँच भाइयों की, इस लोक की
सम्पदा जो सारी मिले यमपुर में उन्हें।
मेरे दिव्य शस्त्र, देव शस्त्र विश्वनाशी वे
ब्रह्मशिरा सर्वग्रासी नारायण अस्त्र को
रोक सके ऐसा कौन है जो इस लोक में?

देव हो कि दानव हो शक्ति किसकी है जो
मेट सके ब्रह्म शर महिमा जगत में ?
पापी धृष्टद्युम्न को सुलाऊँ कालरण में,
मारे गये तात पुत्र शोक में विकल हो,
और वही पुत्र हूँ मैं धिक् मुझे धिक् है
जीवित हूँ अब तक मैं, पापी पितृ ऋण से
उऋण हुआ न जो हा ! मार पितृघाती को।
ग्लानि वीरकुल की, मैं पुण्यक्षीण धिक है
जीवित हूँ।"

थर थर काँपा वीर रोष से,
काँपता है जैसे सिन्धु झंझा की झकोर में।
तत्क्षण ही वाणी रुकी। क्रोध की लपट में
मानों जली जीभ, जलीं आँखें धक धक सी
आहुति पड़ने से यथा अग्नि, श्रम-बिन्दु से
शोभित था भाल हेमकूट रत्नमय ज्यों।

कहने लगा यों तब आश्वासन स्वर में
अन्धनृप नन्दन, "हे वीर ! गुरुपुत्र हे !
कर्मरेख मिटती कभी क्या पुरुषार्थ से ?
भाई अनुकूल पांडवों के भाग्यचक्र है,
हो रहा तभी तो हाय ! देखो हीनबल मैं;

करता तभी तो उपहास शंख ध्वनि से
देखो यह शत्रु आज संकट की रात में।
सहना पड़ेगा हमें भाग्य में लिखा है जो
निर्दय विधाता ने।"

"परन्तु कर्म लिपि या,"
हाथ फेंक द्रोणसुत बोला ग्लानि व्यंग से,
"निर्दय विधाता और भाग्य की विडम्बना
देखी नहीं तुमने क्या राजकुल रत्न हे!
कुरुकुल चूड़ामणि! माँगा जब तुमसे
पांडु के सुतों ने राजभाग था अनय से,
और जब तुमने कहा था वीर दर्प से
'होते अधिकारी क्या अनौरस तनय हैं
सिंहासन राजदंड राजछत्रपद के?
धरती न दूँगा प्राण दे दूँ भले किन्तु मैं
लूँगा अपवाद नहीं शत्रु शस्त्र भीति का'।
और जब आज जली अग्नि इस रण की
दे रहे हो दोष दुर्दैव कर्मलिपि को।
भूल चुके राजनीति और वीरव्रत हो,
भूले यदि जीवन के मोह में समर में,
संधि करो पांडवों से और संधि दूत मैं
आज बनूँ, किन्तु, जब पद्मपति प्राची में

आकर करेंगे अनुरंजित जगत को,
मेरी प्रतिहिंसा, प्रतिहिंसा द्रोण सुत की
दावानल बनकर जलेगी शत्रु बन में।
एकाकी लड़ूँगा, पितृदेव के निधन का
बदला न लूँ जो धृष्टद्युम्न के रुधिर से
तर्पण उन्हें कर, न सींचूँ धरातल को
शत्रुओं के शोणित से जाऊँ मैं नरक में।
घोर कुंभीपाक में जलूँ मैं यदि जन्म हो
मेरा फिर जग में तो दैव रे! कहूँ मैं क्या,
याचना है दूसरा शिखंडी बनूँ लोक में।
वीर कुल ग्लानि बनूँ जग का कलंक मैं।"

कौंधती है चंचला ज्यों वेग से गगन में
घोर घन बेधती हुई ज्यों लुप्त होती है;
देखी वही शक्ति वेग शक्ति गुरुपुत्र की
बाहर शिविर के हुआ था जो निमेष में,
अम्बर में गूँजती थी वाणी अभी जिसकी
और वह अग्नि, आत्मग्लानि, प्रतिहिंसा की
धधक उठी जो महावीर के हृदय में
चलती चतुर्दिक थी, मानों विश्व व्योम में।
जल उठा मानों कुरुराज उस वह्नि में
कहने लगा यों—

'पितृशोक में विकल हो
खोया तुमने है ज्ञान चक्षु, प्रतिहिंसा की
भावना में भूले महावीर ! वीरव्रत हो।
जा रहे हो जाओ गुरुपुत्र ! जानता हूँ मैं
संकट में कौन किसका है इस लोक में ?
छोड़ते हैं पक्षी वृक्षराज जब वन में
जल उठता घोर ज्वाला में दावाग्नि की।
जैसे जब पुष्पशर, प्रेरणा में इन्द्र की
तोड़ने चला था जो समाधि योगिराज की
देवकुल मंगल की कामना थी मन में ;
किन्तु जब हाय ! नेत्र ज्वाला में त्रिनेत्र की
भस्म हुआ उसको बचाया क्या सुरेन्द्र ने,
चन्द्र ने बचाया या कि वायु ने, वरुण ने ?
तीन लोक त्राहि त्राहि करता फिरा था जो
आश्रय मिला न कहीं। विश्व के विधान में
आता नहीं आड़ कोई भीषण विपत्ति में।
जाओ उपालम्भ नहीं मेरा कुछ तुमसे।
कूदा था स्वयं मैं इस विग्रह-समुद्र में
लोकनीति रक्षा करने को ; बाहुबल से
पार मैं करूँगा इसे या कि डूब जाऊँगा;
चिन्ता नहीं डूबता तो अखिल जगत है,

डूबता है आज कोई और कल कोई है,
डूबती है सारी सृष्टि बेला में प्रलय की।'

आया अश्वथामा वसुसेन के शिविर में
उठती हैं राग की तरंगें जहाँ व्योम में,
गा रही हैं वार वधुयें हों यक्षबालायें,
विद्याधरी, किम्बा कुल कोकिल वसंत में।
वाद्यध्वनि वीणा, वेणु, सारंगी, मृदंग की
मिल कल कंठध्वनि राग कामिनी में जो,
मोदित कर मानव के मन को दिगंत को
मोदित करती है मिल गंधरस वायु में।
जिसमें जड़ी है चन्द्रकान्त मणि, सोने का
सिंहासन, बैठा वसुसेन उस पर है,
परिजन संग सब बैठे मंजु मंच में।
परिजन संग लिये मानों यक्षराज हो
बैठा हेमकूट वर्षशृंग के निवास में।
मृगमद, कपूर, गंधपूर्ण घृत, हेम के
दीप जलते हैं, खंड मानों दामिनी के हों
जगमग अनेक, चारों ओर यथा चंचला
अचला हुई है अहा! घेर चन्द्र लोक को।
चन्द्रमुखी जो कि पिकबैनी मृगनैनी ये,
रूप धरे रागिनी ये, काम चतुरंग सी,

खींचकर भृकुटि-कमान छोड़ती है जो
सर्वजयी सम्मोहन विशिख कटाक्ष का,
लेना रस हो जो हे रसज्ञ! इन बाणों का
और खेलना हो इन मणिधर नागों से
लोट जो रहे हैं कटि देश पर इनके,
स्वागत है आओ। चला छोड़ कवि अब तो
रुकना नहीं है जिसे मार्ग में पथिक सा
छोड़ यह कुंज वन जाना है निदाघ में।

देखा वीर द्रोणि ने यशस्वी वसुसेन को,
सूर्यतेज मंडित किरीट, यथा भाल में
सूर्यकान्त मणि की प्रभा हो। दिव्य देह से
निकल रही हों सूर्यरश्मि विभा जिनकी
देख पड़ती हो रँगती सी हेमरंग में
सारा वह प्रान्त घिरा सुन्दर शिविर से।
पाटम्बर श्वेत पहने है वीर, फूल की
श्वेतमाला शोभित है कंठ भुजमूल में
उरस रही है कर्णफूल-यथा मंजरी
कानों में, सुगंध पूर्ण छूती है कपोलों को;
रक्तिम हैं नेत्र चलते हैं चपला से जो
और कभी बन्द होते भृङ्ग यथा पद्म में।
संधिबन्ध ढीले पड़े वीर केशरी के हैं

कादम्बरी ओज में, प्रभाव अवसाद में।
स्पर्श कर उष्ण मधुगंध पूर्ण श्वास को
झुलस रही है फूलमाला वक्ष देश की।
देख गुरु पुत्र को उठा सुवीर केसरी,
प्रणत पदों में हुआ विप्र के विनत हो,
होता है प्रणत देवराज देवगुरु के
पूज्य चरणों में यथा सुमधुर वाणी में
कहने लगा यों हाथ जोड़—

"घोर निशि में
आए पूज्यपाद! तुम दास को निदेश दो।
एक व्रत, एक धर्म, निष्ठा एक दास की
जानते हो प्राण भी अदेय नहीं मुझको।
आशीर्वाद देना, कभी याचक विमुख हो
जा न सके, आये पास दास के जो। स्वर्ग की
कामना नहीं है मुझे और अपवर्ग की,
चाहता नहीं मैं राजकोष, आयु, धन हूँ,
विश्वविजयी मैं बनूँ इच्छा नहीं मन में;
कामना है एक मेरी स्वप्न में भी भूल के
याचक न जाये कभी मुझसे विरत हो।
मेरी यह कीर्त्ति, यश कीर्त्ति सूतसुत की,
लोक की कहानी बने दानी को अदेय क्या?

बोला द्रोणि "स्वस्ति हरिचन्द, शिवि, बलि की
कोटि में रहेगा हे यशस्वि ! इस जग में
पावन तुम्हारा यश। फैलेगी दिगन्त में
कीर्त्तिकथा फैलती है गंध ज्यों वसंत में।
आया नहीं किन्तु याचना को यहाँ आज मैं।
भिक्षा विप्रवृत्ति है, परन्तु उस दिन से
निन्द्य हुई मेरे लिए मेरे कुल के लिए,
याचना के हेतु गये वीर जिस दिन थे
पूज्यपाद और उस द्रुपद अनार्य ने
मिथ्या कर पूर्व प्रण, परिचय पूर्व का
उनका अनादर किया था। अपमान में
क्षुब्ध हो कहा था पितृदेव ने 'कि धिक् है
हीन यह भिक्षावृत्ति ब्रह्मवृत्ति जग की,
होता अपमान जिससे है द्विज कुल का।
शास्त्रधर शस्त्र धरें और बाहुबल से
मेटें अपवाद यह ग्लानि द्विज कुल की।
याचना न होवे अब मेरे वंश में कभी।
आया नहीं मालिनी नरेश ! याचना को मैं
कैसे मैं अधर्म यह..."

कर्ण कहने लगा

ओठों पर खेली मंजु हास्य-रेखा मोद की,

"बदला लिया था गुरुदेव ने द्रुपद से
राजमद चूर कर दान दिया उसको
राज और प्राण, विप्र! दोनो एक-साथ ही!
और वीर! दुर्लभ तुम्हें क्या इस लोक में?
चाहो राज्यवैभव तो इच्छामात्र से तुम्हें
प्राप्त वह, शस्त्रबली विश्व में विदित हो
जीत सकते हो यह विश्व इन बाहों से।"
धर लिया हाथ नर केशरी ने द्रोणि का
आदर से बोला,

"अब जाना गुरु वध से
व्याकुल हो वीरश्रेष्ठ और प्रतिहिंसा में
धारण किया है काल शस्त्र घोर निशि में
तुमने, तुम्हारे भव्यभाल का त्रिपुंड यों
देख पड़ता है ज्यों त्रिधारा सरसरि की
आकर गिरी हो शैलराज शिलाखंड पै,
अथवा त्रिपुंड हो त्रिपुंडी के ललाट में।
स्कंध में पिनाक घोर, पीठ पर तूण है
कालअसि कोष में पड़ी है नागराज सी,
भाल मणि भालनेत्र, प्रलयंकर रूप में
तुम यों सजे हो सजते हैं त्रिपुरारि ज्यों
सृष्टि नाश करने को भीमरुद्र रूप में।

देख यह रूप देखो काँपती धरित्री है।
प्रत्यंचा चढ़ाकर टँकोर दो धनुष में
और देखो घोर रव सुनकर जिसका
रोने लगता है शिशुकुल भय त्रस्त हो
सो रहा निरापद जो माँ के स्नेह-अंक में,
और वह प्रेयसी पड़ी है जो शिथिल हो
प्रियतम के पार्श्व में, मृणाल भुज जिसके
आ पड़े हैं प्रेमिक के कंठ वक्ष देश में,
भग्न होगी नींद उस कामिनी की क्षण में
सुन यह वज्र नाद।" रेखा मंजु हास्य की
खिल उठी वक्र अधरों में, देवसरि में
आभा क्षीण शशि की हिली हो मिली नीर में।
बोला, "इस हेतु लोकधर्म के विचार से
आज तो उतार यह शस्त्र धरो।"

"कैसे मैं"

बोला द्रोणि, "कैसे मैं उतारूँ शस्त्र कैसे मैं?
जानते नहीं हो लोक धर्म प्रतिहिंसा है
मेरे लिए? यज्ञ, तप, कर्म प्रतिहिंसा है।
छूटा लोकधर्म धर्मसुत का समर में,
रो रहे सुयोधन हैं छोड़ वीरधर्म को।

पांडु के सुतों से अब होगा नहीं उनका
युद्ध। संधि होगी राज्य देंगे प्राण लोभ में।"

"स्वप्न देखते हो गुरुपुत्र! हिमकर से
चूती कभी अग्नि या कि दिनमणि से कभी
होता है अँधेरा?" अंगराज कहने लगा।
"प्राण भय होगा कुरुराज को? जलधि क्या
सूखेगा निदाघ में? चलो हे वीर देखूँ मैं
रोते हैं नृपेन्द्र किस हेतु? वीरगति तो
मिलती सभी को, मिली रावण को, वृत्र को
और मिली तारक को। मानव जगत में
अमर नहीं हैं चलो देखूँ"; वायु वेग से
चल पड़ा वीर, गुरुपुत्र पीछे उसके।

बाहर शिविर के हुए वे वीर दोनों ही
शक्तिधर संग लिये जा रहा सुरेन्द्र हो,
किम्वा कालनेमि चला संग इन्द्रजित के।
दोनों ओर मार्ग के अनेक शिविरों में हैं
वीरजन, सो रहा है कोई क्लान्त रण से
और कोई ले रहा परीक्षा आयुधों की है।

वाद्यध्वनि हो रही कहीं है, कहीं गान की,
और कहीं वेदध्वनि, यज्ञधूम नभ में
छा रहा है, गंधपूर्ण कर उस प्रान्त को।
मानस के तीर यथा स्वर्णपुरी नगरी,
यत्तकुल करता विहार जहाँ सुख से,
होती अविराम जहाँ वाद्य वेदध्वनि है।

आ गये वे देखा सामने था मेरुशृंग सा
भव्य जो शिविर, था निवास कुरुराज का।
देखा शूलपाणि खड्ग हस्त द्वारपाल को
भीममूर्त्ति मानों वीरभद्र शिवधाम के
द्वार पै खड़ा हो। द्रौणि बोला अंगराज से
"जाओ वीरश्रेष्ठ! मैं न जाऊँगा शिविर में
रुष्ट कुरुराज होंगे देख मुझे, कल जो,
युद्ध हो कि संधि हो लड़ूँगा पांडवों से मैं।
बदला न ले जो पितृघाती से जगत में
हीन जन्म उसका है कायर अधम का।"

ज्यों ही चला आगे द्रौणि छोड़ वसुसेन को
आई ध्वनि! भीषण प्रतिध्वनि शिखर से

पांडु के सुतों से अब होगा नहीं उनका
युद्ध। संधि होगी राज्य देंगे प्राण लोभ में।"

"स्वप्न देखते हो गुरुपुत्र! हिमकर से
चूती कभी अग्नि या कि दिनमणि से कभी
होता है अँधेरा?" अंगराज कहने लगा।
"प्राण भय होगा कुरुराज को? जलधि क्या
सूखेगा निदाघ में? चलो हे वीर देखूँ मैं
रोते हैं नृपेन्द्र किस हेतु? वीरगति तो
मिलती सभी को, मिली रावण को, वृत्र को
और मिली तारक को। मानव जगत में
अमर नहीं हैं चलो देखूँ"; वायु वेग से
चल पड़ा वीर, गुरुपुत्र पीछे उसके।

बाहर शिविर के हुए वे वीर दोनों ही
शक्तिधर संग लिये जा रहा सुरेन्द्र हो,
किम्वा कालनेमि चला संग इन्द्रजित के।
दोनों ओर मार्ग के अनेक शिविरों में हैं
वीरजन, सो रहा है[1] कोई क्लान्त रण से
और कोई ले रहा परीक्षा आयुधों की है।

वाद्यध्वनि हो रही कहीं है, कहीं गान की,
और कहीं वेदध्वनि, यज्ञधूम नभ में
छा रहा है, गंधपूर्ण कर उस प्रान्त को।
मानस के तीर यथा स्वर्णपुरी नगरी,
यक्षकुल करता विहार जहाँ सुख से,
होती अविराम जहाँ वाद्य वेदध्वनि है।

आ गये वे देखा सामने था मेरुश्रृंग सा
भव्य जो शिविर, था निवास कुरुराज का।
देखा शूलपाणि खड्ग हस्त द्वारपाल को
भीममूर्त्ति मानों वीरभद्र शिवधाम के
द्वार पै खड़ा हो। द्रौणि बोला अंगराज से
"जाओ वीरश्रेष्ठ! मैं न जाऊँगा शिविर में
रुष्ट कुरुराज होंगे देख मुझे, कल जो,
युद्ध हो कि संधि हो लड़ूँगा पांडवों से मैं।
बदला न ले जो पितृघाती से जगत में
हीन जन्म उसका है कायर अधम का।"

ज्यों ही चला आगे द्रौणि छोड़ वसुसेन को
आई ध्वनि! भीषण प्रतिध्वनि शिखर से

मानों हुई सिंहध्वनि "विप्रवर क्षम्य हो
लोकपूज्य ब्रह्मकुल में जो जन्म तुमने
धारण किया है, इस हेतु राजदंड से
मुक्त तुम, माना हो अदंडनीय सर्वथा,
साध्य नहीं मेरा जो कि दंडित करूँ तुम्हें।
किन्तु सोच देखो वीरश्रेष्ठ ! वीरकुल में
वंद्य तुम, विश्रुत तुम्हारी वीरकीर्त्ति है।
क्षोभ से पराजित हुए जो हे अजेय हो
योग्य क्या यही है तुम्हें लांछित करो मुझे ?
प्राणभय मुझको हुई है प्राण लोभ में
संधि मैं करूँगा पांडवों से कहते हो जो
मान इसे लेंगे अंगराज स्वप्न में भी क्या ?
मान इसे लेगा भला वीर कुल विश्व का ?
तो फिर बताओ अपमान यह मेरा जो
हो रहा तुम्हारे अपवाद से है लोक में
कैसे गुरुपुत्र सहूँ ? किन्तु मैं सहूँगा ही
कहता हूँ फिर भी लिखा है जो विधाता ने
मेरे हीन भाल में। परन्तु मोह चक्र में
क्यों हो पड़े भाई तुम ? जन्म ब्रह्मकुल में
तुमने लिया जो ब्रह्मज्ञानी बनो लोक में।
काट यह माया-पाश साधना की असि से
सिद्धि धरो, जाओ ब्रह्म-धाम, इस लोक की

कामना में हो रहे हो हाय ! पथभ्रष्ट क्यों ?
कैसी प्रतिहिंसा ? मरा कौन ? और किसने
मारा किसे ? मारने चले हो तुम किसको ?
कौन मरता है और जन्म कौन लेता है ?
कहना पड़े जो यह विज्ञवर तुमसे,
हीन मर्यादा क्या न होगी उस कुल की
भूषित हुआ है जो तुम्हारे शुभ जन्म से ?
आगम निगम सब जानते हो तुम तो
जीवन, मरण, और जागृति, सुषुप्ति को
देखो ब्रह्म धर्म तुम और राजधर्म मैं
देखूँगा, लड़ूँगा शत्रुओं से स्वयं रण में।
और अंगराज भाई ! क्या कहूँ मैं तुमसे
चाहता क्षमा हूँ भाग्यवादी जो हुआ हूँ मैं।
देखता हूँ भाग्यचक्र मेरे प्रतिकूल है,
होनहार होकर रहेगी फिर क्यों न मैं
जाऊँ और देखूँ रण-कौशल किरीटी का ?
देखी धर्मनिष्ठा, सत्यनिष्ठा धर्मसुत की,
और देखी नीति कूट यादव कुटिल की,
देखना है शेष अब एकमात्र रण में
कौशल धनंजय का, देखूँ मैं स्वयं उसे।
रण में गिरे हैं तात भीष्म और रण में
मारे गुरु द्रोण गये, किन्तु कहो बन्धु हे !

पार्थ के पराक्रम से किम्वा छलछद्म से ?
किसने बनाया महावीर उस क्लीव को ?
किसने निकाली युक्ति द्रोण के निधन की ?
तो फिर यशस्वी हुआ पार्थ किस यश से ?
जानता नहीं मैं धर्मनिष्ठा धर्मसुत की,
जानता नहीं मैं नीति यादव कुटिल की।
वंचना है सारी, शस्त्रधारी शस्त्रधर से
जानता है एक धर्म, नीति एक रण में,
जानता हूँ मैं भी वही, शस्त्र के प्रहार से
मारूँ मरूँ वंचना न शोभा वीर जन की।
काम नहीं भाई, इस तुमुल समर का
काम नहीं रण में गिरें ये वीर विश्व के।
राजा मैं बनूँगा या बनेंगे पुत्र कुन्ती के।
तो फिर हो शान्त यह अग्नि मेरे रक्त से
किम्वा रक्त से हो शान्त पांडव किरीटी के।
लौटे यह सेना, चतुरंगिणी समर को
छोड़ चले, सेनप जो लौटे निज देश को।
लौटें रथी वीर दलपति भव लोक के
भूषण जो लौटें, लौट जाये भीम वाहिनी !
काम नहीं विग्रह में भाई ! कुरुकुल के
वीर गति पावें भव मंडल के वीर ये।
द्वैरथ हो युद्ध कल मेरा और पार्थ का।

जीत जिसकी हो बने राजा धरा धाम में,
क्योंकि कहते हैं वीर भोग्या है वसुंधरा।
और जिसे वीरगति होवे प्राप्त वह तो
होगा महाभाग। रविमंडल को भेद के
प्राप्त हो सकेगा चिर पुण्य शान्ति लोक में।
जाओ गुरुपुत्र! तुम जाओ तपोवन को
और अंगराज तुम मालिनी नगर को
जाओ, वहाँ देखो सिंधुराज वायुराज का
चिर रणनाद सुनो, क्या है इस रण में?
नश्वर शरीरी यह मानव जगत में
मरता कभी है रोगग्रस्त, कभी रण से।
घूमता निरन्तर है निर्दय नियति का
चक्र जो उसी में नर निर्बल, कहूँ मैं क्या,
घूमता है भाग्य वश, नीचे या कि ऊँचे हो
निर्णय करेगा भाग्य चक्र इस युद्ध का,
निर्णय करेंगी कल किरणें वे रवि की
मेट कर यामिनी की क्लान्ति जो जगत को
तेजोमय फिर से करेंगी, जीवलोक में
जीवन का वेग, जब विग्रह अनल को
फूँकने लगेगा, शर मेरे और पार्थ के,
लपटें हो उसकी चलेंगे दिशि दिशि को"।

रुक गई वाणी वह यामिनी की शान्ति में
लीन हुई, लीन यथा होती मेघ वन में
कादम्बिनी विश्व को कँपाकर निमेष में।
काँपता खड़ा था द्वारपाल भय त्रस्त हो,
काँपते थे दोनों वीर बाहर शिविर के।

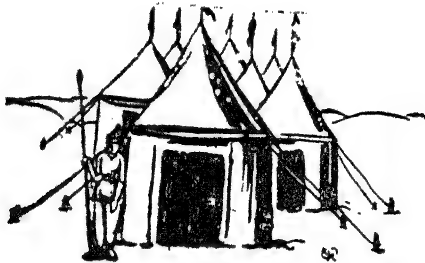
क्षण भर मौन स्तब्ध यामिनी में वायु ज्यों
मन्द बहता है ब्रह्मवेला में, वसंत में,
बोला वसुसेन, "राजरत्न ! जो क्षमा करो
तो फिर कहेगा यह दास, गुरुपुत्र को
दंडनीय मानते नहीं हो किन्तु फिर भी
दे रहे दंड यह घोर हाय ! बोलो, क्यों ?
छोड़ कर मुझको जो छोड़ कर द्रोणि को,
छोड़ कर विश्व विजयी जो वीर दल को
लड़ने चलोगे तुम पार्थ से अकेले ही,
लोकमत होगा कुरुदल ने कृतघ्नता
की थी, कुरुराज ने तभी तो त्याग सब का
रण में किया था। अपवाद यह घोर जो
फैलेगा दिगन्त में रहेगा सदा लोक में।
आ रहे हैं दृश्य उस शस्त्र की परीक्षा के
मेरे नयनों में, कुरुराज ! कर्णरन्ध्रों में

गूँजती अभी है विष वाणी "सूतसुत की
हो जो राजसुत से परीक्षा तो अनय हो।"
इतने दिनों में यह योग आज आया है
साधक के द्वार पर सिद्धि आप आये ज्यों।
करते हो वंचित जो उससे, कहो मुझे
तो फिर था लाभ और लोभ वह कौन सा
जिससे बना हा! अंगराज सूतसुत था
दास यह? गूँजी कालपृष्ठ की टंकोर क्यों
विश्व को कँपाती हुई वैरियों के दल में?
क्या था भला लोक में बताओ इस दास का
सूतसुत था जो? कुलशील ज्ञात जिसका
जग में नहीं था वह श्रेष्ठ राजरत्नों से.
विश्व के लड़ा क्यों बन्धु बोलो किसके लिए?
सेवक तुम्हारा सखा लोक में हुआ है जो
दैव जानता है मनस्ताप उस दास का।
करता कभी जो आत्मघात, किन्तु तुमने
करके अनुग्रह बढ़ाया मान जिसका।
किन्तु मनस्ताप वह कैसे कहूँ हाय! रे
कह न सकूँगा यहाँ, कहता यही हूँ मैं
मारना मुझे है कल पार्थ को समर में।
होगी कल शस्त्र की परीक्षा पुरुषार्थ की,
देखना मुझे है दुर्दैव, किस भाँति से,

जिसने दिया था जन्म मेरा हीन कुल में,
रक्षा करता है उस देवदत्त धारी की
कालपृष्ठ काल से। चुनौती यह दैव की
दे रहा हूँ आज हीनजन्मा हीननर मैं,
साक्षी मान सर्व शुचि वीरमणि सूर्य को।
सूर्यसेवी हूँ जो सूर्य तेज धारी रण में
मारूँगा धनंजय को, कल वह दंभी जो
आया अड़ने को कहीं मेरे शस्त्र पथ में।
निश्चय ही जानो सखे! दिनमणि व्योम में
जब तक रहेंगे वह होगा यमलोक में
और क्या कहूँ मैं?"

हिला कालपृष्ठ कर में,
बाम कर काँपा, चढ़ी प्रत्यंचा धनुष की,
रोष पूर्ण आँखें हुई निर्निमेष पलकें,
खिंच उठीं भौहें, वक्र रन्ध्र नासिका के वे
हिलने लगे यों पद्म हिलता ज्यों निशि में।
बन्दी कर मधुरस लोभी मधुकर को।
खींच कर दारुण पिनाक खड़ा हो गया
वीर, महाकाल ज्यों खड़ा हो सृष्टिलय में।
रुद्र तेज निर्मित पिनाक धरे हाथ में
किम्वा तारकारि हों, टंकोर घोर जिसकी

व्याप्त हुई चारों ओर जलथल व्योम में।
काँपी धरा, भीषण प्रतिध्वनि से गिरि ज्यों
काँपता है वज्र, जब भेद मेघदल को,
चलता है नाद पूर्ण कर भव लोक में।



चिन्ता

गन्धवह वायु वहा। सोई पद्म सरसी,
आभाहीन, हीनप्रभा युवती वियोगिनी
आ गिरी हो जैसे अश्रु सिक्त पद्म आँखों को
मूँद, फूल सेज में अधीर हो वरानना,

आज सितपक्ष रजनी की है त्रयोदशी,
रोहिणी विलासी अहा! रोहिणी को अंक में
लेकर विहार करता है व्योमगंगा में।
उछल रही है जलराशि चाँदनी हो जो
बरस पड़ी है धराधाम में, रजत की
किम्वा यह धार चली धोने विश्व कालिमा।
ले चली कहाँ री मुझे मायाविनि कल्पने!
प्राणेश्वरि मेरी! यह शरद विभावरी
देख आज फूली, यह कोटि-कोटि नभ के
तारे अरी! फूली नलिनी ज्यों नील जल में।

कवि-मन-सुमन खिले थे जिसे देख के
प्रेयसि! तुम्हारे भारवि के, भवभूति के,
भारती के वरद तुम्हारे कालिदास के।
रैवतक शृंग पर देख जिस छवि को
खिल उठा मानस मधूक कवि माघ का।
रैवतक शृंग पर रेवतीरमण हैं,
प्रेममूर्त्ति! पीताम्बर धारी वनमाली हैं,
रुक्मिणी विमोहन, लगी है वेणु ओठों से।
और जो वे अपर विलासी यदुकुल के
वीर सब आये यहाँ शरद् विहार को।
संग संग आईं सुरवामाएँ विनिन्दिनी,
मोहमयी, मानमयी, यदुकुल नारियाँ।
स्वप्न सखी! देख यह वंशी वंशीधर की
बजने लगी है, हँसी सत्यभामा सुंदरी,
जूही के असंख्य फूल मानों झड़े नभ से।
रुक्मिणी ने मारे विष बाण ये कटाक्ष के
राधाधन! राधाधन! वेणु टेर आई जो
रेवती की बाहें आ पड़ी हैं बलराम के
कंठ में, पड़ी हो मंजुमाला ज्यों मृणाल की
चम्पक दलों से सजी। वामाकुल देख री
फैल चला चारों ओर प्रेमियों के मोद को।
ग्रीवा भंगिमा की छटा आहा! मानसर में,

इन्दीवर जाल में फँसी हो राजहंसिनी !
चंचल चरण डाल एरी मधुवर्षिणी !
जाना चाहती है कहीं और यदि तो बता
रैवतक छोड़ ऋष्यमूक को चलेगी क्या ?
सीता के वियोगी जहाँ राम तुलसी के हैं
शरद निशा में। मान जानकी जो उनकी
वन्दिनी है आज सिंधु बीच स्वर्ण लंका में।
देवकुल द्रोही दैत्य रावण की नगरी,
प्रहरी बना है स्वयं सिंधुराज जिसका
पाता है प्रवेश नहीं पक्षिराज जिसमें।
कैसे हो सकेगा फिर त्राण राम वामा का ?
सोच में पड़े हैं इसी दाशरथि देख ये,
आँखें जा लगी हैं शून्य नभ में कि चन्द्र में,
भूतल का सोम देखता है नभ सोम को,
किम्वा तेजधारी अन्य तारा निज कक्षा से
टूट के गिरा है ऋष्यमूक के शिखर पै।
भूधर शिला है आज सेज रघुराज की,
वैदेही विरह में ये जीवन विहीन से,
किम्वा हतचेत फणिधर मणि के बिना।
वीरासन मारे देख, लक्ष्मण अनुज हैं
बैठे पद प्रान्त में विषादी, अयि रंगिणी !
एरी कवि मानस की भावना विलासिनी !

देखा तुमने है क्या कहीं और दृश्य ऐसा है ?
देखा जो नहीं है कभी देखेगी नहीं कभी।
कल्पने री! कौन कवि होगा जीव लोक में
दिखला सके जो यह दृश्य ? फिर तो प्रिये!
साधन विहीन सब भाँति यह जन जो
आ पड़ा है मायामयी तेरे बाहुपाश में,
आशा में सुधारस के मृत्युंजय होने की।
हीनदृशी है जो अन्धकार पूर्ण पथ से,
जाना जिसको है देवि! दृश्य यह राम का
राम विरही का ऋष्यमूक गिरि देश में,
रोष और शोकवाही आँखें जा लगी हैं जो
एकाकर शून्य में, प्रकाशित करे सदा
मेरा यह मार्ग, जा सकूँ मैं देवि! जाना मैं
चाहता जहाँ हूँ—

बलीवीर यह कौन जो
काल गदाधारी है भयंकर कृतान्त सा.
जा रहा है, जैसे लुब्धसिंह, धमराज के
शिविर समीप किम्वा गन्धगज देखें तो
देखें इसे। भीमकर्मा भीम भीमसेन हैं,
भीषण गदा है भुज मूल से लगी हुई,
चूर करती है जो शिला को गिरिशृंग को,

वैरिन्दम जा रहा है अग्रज शिविर में
मंत्रणा के हेतु, जहाँ राजा धर्मराज हैं
जाग रहे, जागते जहाँ हैं पांडु दल के
और सब वीर, मौन चिन्ता सिंधु जल में
डूबे, एक संग सब साँस भी न आती है,
आप स्वयं राजा पार्थ अग्रज अधीर हैं,
देखते कभी हैं दीप मालिका की ओर वे
और देखते हैं कभी ऊपर शिविर में।
चिन्ता च रही है शान्त आकृति से आँखों से
कालजया वारदल चिन्ताकुल हो रहा।
धरती कुरेद रहा सात्यकी है नख से
और धृष्टद्युम्न का ललाट है हथेली में।
देखा धर्मराज ने विषाद से शिविर में
चारों ओर। कोकिल ज्यों कूके आम्र वन में
जलती वनस्थली में दाहक निदाघ में
जब हो अनन्त में दिनेश वृष राशि का
बोले वासुदेव—

"भाई! धर्मभीरु तुम हो
देव तुल्य देव तुम आये इस लोक में
जो हो, तुम्हें निश्चय ही जानों लोकधर्म में
बँधना पड़ेगा, यह कर्ममय विश्व है,

वीरों की विभूति, रंगशाला वीर जन की
जननी वसुंधरा है; वीरपद भार से
मोदित हुई जो तात! और वीर जन के
रक्त से हुआ है अभिषेक सदा जिसका।
गौरव है वीर के लिए जो निज रक्त से
सींच दे धरा को। यह गौरव किसको
दे रहे हो आज किन्तु सोचो तुम मन में?
बीतेगी निशा जो यह ऊषा रविरंगिणी
आकर चढ़ेगी लोकलोभी हेमरथ में,
और जब किरण करों से व्योम तल में
रंजित करेगी मंजुमार्ग दिननाथ का,
रागमयी दूती वह ऊषा अंशुमाली की
कोटि कोटि कंठ से विहंगों के कहेगी जो
जागो अरे! जागो निशा बीती विश्वासी हे!
जागो यह देखो दिननाथ आ रहे हैं ये
प्राण मय हैं जो प्राण देने जीवलोक को।
भूरि भाग हो जो छोड़ शैया पद्म सर में
स्नानकर तोड़ो रक्त अम्बुज कुसुम लो
मृग-मद-जपा तब सुरसरि-सलिल से
अर्घ्य दो दिनेश को जो जीवन निधेष हैं,
पोषक हैं सृष्टि के जो प्रेरक हैं, कर्म के,
धर्म की धुरी हैं, जगती के काम्यकान्त हैं।"

"सुनकर गान यह स्वर्ग के निदेश सा,
सूर्य सम तेजस्वी, उठेगा छोड़ शैया को
कालपृष्ठ धारी वह, काल भवलोक का,
भानुभक्त भक्तियुत पूजेगा दिनेश को
पूरी करने को निज कामना समर में
और जब हर्षमुग्ध हस्तिकक्षा रथ में
आकर चढ़ेगा, शक्तिधारी शक्तिधर सा,
वासव ने दी थी जिसे दारुण अमोघ है
शक्ति वह कालदूती, जब तक वीर के
हाथ में रहेगी, स्वयं देवकुल सेनानी
अड़ सकते हैं भला उससे समर में ?
कहते इसी से कालपृष्ठ धर काल है,
देवों से असाध्य कर्म मानव करेगा क्या ?
चाहता हूँ मैं तो, भातृवत्सल जो तुम हो,
रोको स्वयं पार्थ को न जायें कल रण में।
पुत्र तुल्य होता सदा अनुज जगत में
प्राण से भी प्यारा वह भाई, विना उसके
जी सकोगे क्या तुम मुहूर्त भर भी यहाँ ?
क्या है यह तुच्छ राज, इन्द्र पद भी तुम्हें
मिलता कहीं हो यदि अनुज निधन से
वांछित क्या होगा तुम्हें ?"

भीमसेन विक्रमी
आया इतने में वहाँ। रोषपूर्ण आँखें थीं
लाल लाल दहक रही थीं जो अंगारे सी,
घूम कर देखा वीरवर ने शिविर में,
घूमता है जैसे नाग छोड़ कर केंचुली
घूमता है जैसे फुफकार मार रोष से,
बोला,

"वनमाली! अभी तुमने कहा है जो
मानूँ यदि मैं भी कालपृष्ठ धर काल है,
मारेगा अवश्य सव्यसाची को समर में
कहते हो जो फिर तो रोको इस युद्ध को।
रोको हम घूमें फिर गहन विपिन में
घूमें पर्वतों में वनचारी वनचर से,
वन्यजीवी होकर भी जीवित रहेंगे जो
माधव! कभी तो देख लेंगे अन्त सृष्टि का?
लोमश बनेंगे हम पाँच सुत पाण्डु के,
मूढ़ कौन छोड़े अमरत्व राज्य के लिए?
छोड़ा था किसी ने कभी तुमने सुना है क्या
जानते हो तुम जो बताओ बंधु मुझको।
माया माधुरी में या कि ज्ञान के प्रकाश में
किसको हुई है कहो कामना मरण की?

पूछो धर्मराज से, विराट नगरी में ये
हीनवृत्तिजीवी थे, हुई थी कभी इनको
मृत्यु की भी कामना ? या पूछ देखो पार्थ से !
आसव शिथिल अंग सैरन्ध्री शिविर में
ले रहे विराम हैं जो दिव्य अस्त्रधारी वे,
पाशुपत साधक वे सम्मोहन सेवी वे।
छोड़ कर सारे लोकनाशी देवशस्त्रों को
अंक में शमी के छोड़ विश्व व्यापी कीर्ति को
ऊर्वशी विरागी वे, बृहन्नला के वेष में,
नाचे और गाये थे विराट सुता रीझी थी,
पूछो उनको भी हुई मृत्यु की थी कामना ?
और क्या कहूँ मैं जब कीचक अधम ने
बाँधा द्रौपदी को भुजपाश में था, देखा था
देखा था अभागी इन आँखों ने मनोज के
कुसुम शरों से विद्ध पापी, काँपता था जो
कामज्वर से हा ! हीनभाग्य देखा मैंने था
दारुण विनोद वह निर्दय नियति का,
पर क्या मुझे भी मृत्यु की थी हुई लालसा ?
जीवन का मोह यह मानव की शृंखला,
टूटेगी कभी जो विश्व ब्रह्मरूप होवेगा।
तो फिर क्या राज्य और कैसा युद्ध, जाने दो,
पार्थसखा ! पार्थ की जो चिन्ता है तुम्हें हुई,

आत्मजन योग्य ही है। रोको तुम पार्थ को,
रोकें धर्मराज भी न जायें कल रण में।
भारत जयी हो कालपृष्ठ धारी लोक में
फैले कीर्त्ति कर्ण की ज्यों पावस गगन में
फैलता है मेघ; धरा डोले जय नाद से;
गाएँ यक्ष किन्नर विभूति वीर वर की।
बोरे क्षात्रधर्म बोरे कीर्त्ति कुरुकुल की
सूतसुत और हम अमर शरीरी हों।
अमर शरीरी हम होवें भव भूमि में,
जीते रहें लक्षकोटि वर्ष हाय! काल का
अन्त तो नहीं है, बेलि मानव के वंश की
फैलेगी धरा में लोग आयें और जायेंगे।
होगा कभी अन्त व्योमभेदी विन्ध्यगिरि का
रोकने चला था जो कि मार्ग दिनकर का,
कहते हैं बैठेगा रसातल में, उसके
ऊपर तो नील ऊर्मिमाली लहरायेगा,
बीतेंगे अनेक युग, विप्लव अनेक जो
होंगे भव मंडल में सब से विरत से,
जीवित रहेंगे हम जैसे जड़ीभूत हो,
मृत्यु जो नहीं हो फिर ग्रन्थि कर्मपाश की,
क्योंकर कटेगी?"

गदा फेंकी वीरवर ने
दूर जा गिरी जो वहीं बाहर शिविर के,
गिरता है जैसे टूट कुलश शिखर का
मंदिर का बिजली के गिरने से वेग से।
गूँजी ध्वनि भीषण गदा के घोर घात से।
डोली भूमि, डोला वह शिविर समेरु ज्यों
डोला था दुरन्त जब महिष असुर ने,
देवकुल द्रोही ने हराया था मुकुन्द को,
डोला मेरु शृङ्ग शृंगघात से जिसके।

बैठा जहाँ वीरकुल केशरी किरीटी था,
मधुरस मुग्ध लोचनों से याज्ञसेनी को
निर्निमेष, किम्वा था निहारता निहार में,
अवनत सरोज, किम्वा चन्द्र मेघमाला में,
पैरों के समीप बैठी द्रौपदी थी मानिनी,
मुक्त केशराशि आ पड़ी थी वक्ष देश में,
मंजु शिविरालय में, नन्दन निकुंज में
मानो रतिनाथ रतिसंग। ध्वनि धाँय की
गूँजी इतने में घोर, कृष्णा उठी चौंक के,
बोली मदिराक्षी,

"नाथ ! मारा क्या हिडिम्ब को
आज है तुम्हारे बली भाई ने समर में,
घोर गदाघात से हिली जो यह धरती,
देखो नाथ ! देखो।" अरे ! वन में कुरंगिनी,
आकुल हो जैसे वनराज की दहाड़ से,
सिहर उठे हों अंग चंचल चरण हों,
चंचल हों नेत्र भय विह्वल हो बोली यों,

"हाय नाथ संभ्रम में दासी ने कहा है जो
उसको हुए तो युग बीते, आर्य सुत ने
मारा नरभोजी उस दानव दुरन्त को।
सुनती हूँ, ऐसी ही निशा थी कालकामी ने
काल से भी दारुण हो चाहा आर्य सुत को
मारना परन्तु मरा पापी गदाघात से।
गूँजी ध्वनि दारुण थी ऐसी ही वहाँ भी तो,
काँपा वनप्रान्त और काँपा जनपद था;
तो फिर है भेजा किसे अन्तक नगर को
अन्तक समान रोषधारी आज स्वामी ने।
जा रही हूँ नाथ अभी जाकर मैं देखूँगी,
किसकी हुई है यह रात्रि कालरात्रि हा।
तब तक विराम करो।" गजगति गामिनी
आगे चली,

तेरी राजहंसिनी सलिल में,
"प्राणेश्वरि !" द्रौपदी विलासी कहने लगा,
"बीती रात आधी यह देखो पुष्पशैया, जो
प्राणेश्वरि ! तुमको बुला रही है प्रेम से,
सूनी जो करोगी इसे, सूनी क्या विभावरी
होगी नहीं मेरे लिए ? लौटो, दूत भेजूँ मैं
आकर तुरन्त समाचार तुम्हें देगा जो,
चिन्ता हमें क्या है गदाधारी भीम भाई की ?
वज्रपाणि वासव, त्रिशूलधारी शंभु ज्यों,
किम्वा गदाधारी हनुमान, गदाधारी वे
निर्भय अजेय जो सदैव हैं जगत में।
फिर क्यों अधीर हुई चन्द्रमुखी ?" बोली यों
कृष्णा कामरूपिणी हो, झंकृत हुई यथा
वीणा अनायास छू गये हों तार जिसके।

"हाय नाथ ! शोभित हुई क्या कभी मुझसे
सेज थी तुम्हारी जो कि सूनी आज होवेगी ?
जानते हो तुम तो वसंत बीता व्यर्थ ही
मेरे इस जीवन में। मैं जो थी अभागिनी
जाना नहीं मैंने कब आया मधमास था
और कब छोड़ चला, मानस सलिल में
आई मीनकेतु की हिलोर कब क्या कहूँ ?

कौरव सभा में अर्द्धनग्न जिस पल मैं
लाई गई हाय ! वह सूखा अकस्मात यों
सूखता है जैसे सिंधु बाड़व अनल से।
घोर अपमान गत लज्जाशील नारी मैं
कामिनी नहीं हूँ, फिर कैसे कामदेव की
मुझ पर कृपा हो ? धन्य होगी क्या मरुस्थली
उर्द्धमुख ऊपर निहार मेघमाला को ?
पाँच पति मेरे बलि मेरी जो हुई थी हा !
राजनीति देवी या कि दानवी की तुष्टि को
जानती हूँ मैं तो नहीं, जानेगा भविष्य क्या ?
सत्य कभी होगा जो कि स्वप्न अब तक है,
धारण करेंगे कुरुराज कुरुवंश का
उज्ज्वल किरीट कभी और यह दासी भी,
राजपुत्री है जो, राजरानी कभी होवेगी ?
जिस फल हेतु बनी दासी एक नारी थी
पाँच पतियों को बाँधने को एक पाश में
किम्वा एक नीति में हो बाँधे यथा सिंहिनी
एक संग पाँच वनराज एक वन में।
संभव नहीं है जो परन्तु पशुलोक में,
मानव के लोक में क्या होगा और क्या नहीं,
सुनते प्रकृति भी तो हारेगी मनुष्य से।
हार चुकी मैं तो यह जीवन जगत में,

संतति विहीन मैं, फली जो नहीं मंजरी,
और जो कि फूली नहीं पाटल की लतिका,
बरसी नहीं जो मेघमाला व्योम घेर के,
खोला नहीं आनन समोद पद्मिनी ने जो
रवि के करों से खेल, शरद निशीथिनी
वंचित रही जो निशानाथ और तारों से,
मुखरित हुई जो नहीं ऊषा व्योम रंजिनी
स्वागत का गान हो ज्यों मंजु खग रव से?"

मौन हुई कृष्णा। मौन वाणी कवि की हुई।
मौन हुई वीणा भारती के भाव गेह की।
मानव की वाणी क्या कहेगी जहाँ वाणी भी
आप स्वयं मौन हो उठी है, तीन वर्ष ये
बीते व्यर्थ। बीते दिन पावस वसंत के,
बीती रजनी है जहाँ शरद शिशिर की,
गति, लय, छंद, शब्द पाया नहीं कवि ने
चित्रित करने को वह दृश्य जिसे व्यास भी
भूल गये, भूली हो कहानी भव लोक में
भूली रही जीवित क्या होगी? किन्तु सत्य जो
कहते अमर है, तो आओ अश्वथामा हे!
आवाहन करता हूँ आओ वीर! आओ तो,
देखे लोकमाल जो तुम्हारा मणि तेज से

तेजस्वी रहा यों रणभूमि में दिनेश ज्यों।
लाँघा तुमने था जहाँ काल की परिधि को
व्यर्थ कर अर्जुन के कालकूट शस्त्रों को
रोक कर पाशुपत अमर कहे गये,
आओ अपकीर्ति जो तुम्हारी चिरकाल से
चलती रही है आज धोना है मुझे उसे,
निर्भय हे वीर! मुझे निर्भय बनाओ तो।
और भय क्या है मुझे भारत कहानी में
पाया काव्य मर्म मैंने कैसे उसे रोकूँगा?
कैसे रोक लूँगा कवि सत्य? कवि प्रेरणा
न्याय भावना से हीन जायेगी भला कहाँ?
होगा भला लाभ ही क्या ऐसे काव्य बन्ध से
लोक चक्षुओं में जो प्रकाश हो फिरा नहीं?
ओजस हो मानव के मन में न डोली जो
निष्फल सदैव वह होगी कवि साधना,
फिर क्या विलम्ब, द्रौपदी ने कब था जाना
पाँच पुत्र? पांडव शिविर में निशीथ में
मारा तुमने था वीर जिनको अधम हो?
द्रोणसुत! यह तो कलंक निराधार है
उज्वल चरित्र में तुम्हारे स्वयं व्यास भी
भारत कथा में मौन देखो वीर क्यों रहे?
जन्म की कहानी उन पांडवों के पुत्रों की

जानता नहीं है लोक, पैदा वे कहाँ हुये।
इन्द्रप्रस्थ नगरी में? वारणावत वन में?
हिमगिरि उपत्यका में? अथवा विराट की
उस नगरी में जहाँ द्रौपदी थी सैरन्ध्री?
पाँच पुरुषों के पाँच पुत्र एक नारी से?
क्योंकर करेगा कवि तर्क अब तर्क से
लाभ क्या? कलंक कर्मनासा चिरकाल से
यह, जो चली है द्रोणसुत के चरित्र की
मज्जन किया है सुधियों ने हाय जिसमें
सूखेगी कभी क्या?

किन्तु आशा कवि छोड़े क्यों?
आशा अयि मायाविनि! तुमसे जगत में
साध्य क्या हुआ है नहीं? मानव के मन में
सोने के सरोज कितने हैं खिले स्पर्श से
देवि है तुम्हारे? चिर आश्रय जगत की
तुम जो रही हो लोक मरु की पयस्विनी।
जीवन अरण्य जहाँ दावानल ज्वाला जो
जलती रही है फूँक देती कभी उसको
भस्मसात होता लोक जीवन निमेष में,
सींचती न होती यदि देवि सुधारस से
तुम जो तो मायाविनि!

कैसे इस कवि के,
भाग्यहीन मानव के मानस में आती यों
आप स्वयं वीणापाणि, केन्द्रहीन जग में
जी रहा जो आकर्षणहीन पाँच वर्ष से।
अनुज यशस्वी गया, सूखा स्रोत कर्म का।
कर्म भाव हीन चले देखो हैं दिवस ये,
कर्महीन जीवन की कल्पना भी जग में
हेय सुधियों को रही और कर्महीन में
जीवित हूँ। आज फिर सिंधु कर्मयोग का
लहरा रहा है, मातृभूमि के पुजारी ये
पुण्य भूमि भारत वसुंधरा के वीर ये
निर्भय विरागी और रागी एक संग हैं
कूद रहे जिसमें। ये मृत्युंजय मृत्यु को
करने पराजित चले हैं। पुराकाल में
पूर्व पुरुषों ने पूत गंगा के पुलिन में,
विन्ध्य अटवी में, या कि मानसर प्रान्त में,
जिसको पराजित किया था, मृत्यु हारी थी
हारी मृत्यु शोक निशा बीती सांख्य योग का
अंशुमाली आया और आया ज्ञान लोक में।
धन्य हुई भारत धरा थी यह गर्व से
गाया ऋषियों ने जहाँ गान कर्मयोग का।
कर्मयोगियों की यह भूमि चिरकाल से

बंधन विहीन। उस विगत अतीत का
द्वारपट खोलने चला जो कवि आज है,
एकमात्र आशा में कि देख उस युग की
उज्ज्वल विभूति, ओज पायेंगे मनीषी ये
धन्य जिनसे है हुई जन्मभूमि जननी।
श्याम घन घोष करता हो ग्रीष्म संध्या में,
पश्चिम गगन में गंभीर धीर ध्वनि हो
पावस की सूचना सी, लोक ताप हारिणी
आई ध्वनि। रुक्मिणी विनोदी कहने लगे;

"भीमसेन कर्मतरु फूल कर भी नहीं
देता फल, जब तक काम, क्रोध मद के
कीट रहते हैं लगे उसकी शिराओं से।
अवसर नहीं है उपदेश यहाँ देने का।
रोष करते हो तुम व्यर्थ, गदा फेंकी है
रोष में जो तुमने बताऊँ परिभाषा मैं
शक्ति की, सुधीजन तो संयम हैं कहते।
संयम विहीन शक्ति पशु की प्रकृति है।
देखो मनोयोग से शरीर बल में सदा
मानव से श्रेष्ठ पशु; किन्तु बुद्धि बल में
हीन है, इसी से वह मानव अधीन है,
छोड़ो रोष, छोड़ो ग्लानि, छोड़ो दंभ बल का

बुद्धि से विचार कर देखो हित साधना,
मानव विवेक जहाँ शक्ति का नियंता हो
निश्चय ही जानो वहाँ मंगल विजय है।"

"मंगल विजय तात मेरे लिए तुम हो
कर्म की हो प्रेरणा। जो चाहो हो करो सखे
साध्य क्या हमारा जो कि तर्क तुमसे करें।"
बोले धर्मराज, "यह दास, धन धरती
वैभव की मूर्त्ति द्रौपदी भी जब द्यूत में
हार गया, कूटबुद्धि शकुनि के छल से
राज्य हीन, बुद्धि हीन और धनहीन मैं
जब वनवासी हुआ, शेष धन कौन सा
मेरा बचा जीवित रहा हूँ जिस बल से?
जानती धरा है, धरावासी नर नारी ये
जानते सभी हैं, मर अमर दिगन्त में
यक्ष किन्नरों का कुल हेमकूट वासी जो
जानता है, जानते हैं देव देवलोक के
नाग जानते हैं नागलोक में कि तुम हो
मेरे इस भव के विभव, क्या कहूँगा मैं?
आश्रित बड़ाई क्या करेगा कहो स्वामी का
रहना जिसे है उपकार-भार-नत हो?
हीन यह सेना हीन पुत्र सखे पांडु के

पार करते क्या कभी भीष्म-शर-सिंधु को ?
बनते न पोत यदि तुम जो निमेष में
डूब यह जाती चतुरंगिणी अतल में,
किम्वा भस्मसात होती अग्नि जब द्रोण की
दारुण जली थी, जलती थी धरा जिसमें,
व्योम जलता था, भयत्रस्त यह सेना थी
भागी जब, भागे सब सेनप अधीर हो,
भागते हैं जैसे जीव धारी जीवलोक में
रोष से पिनाकी जब फूँकने को सृष्टि के
छोड़ते कराल शर-जाल हैं दिगन्त में।
सर्वभुक् जैसे सर्वग्रासी द्रोण धन्वी को
शान्त करते न यदि युक्ति बल से सखे !
तो फिर क्या होते हम आज भव-लोक में ?
जीवित क्या होते जो कि आज फिर युद्ध की
मंत्रणा चलाते ? यशोलिप्सा, राज्य कामना
लुप्त तो हुई थी जब आप धृष्टद्युम्न भी
आहत अचेत हो गिरे थे रणभूमि में।
रुक न सके जो स्वयं देवदत्तधारी से,
दुर्जय, दुरन्त, विश्व-नाशी, शत्रि दल के
गौरव सदेह, किम्वा रुद्र रोष रूपी वे
वृद्ध गुरु द्रोणाचार्य, सुनते हैं रण में
मान जिनको था दिया आप भृगुराम ने।

देव ! कटु भाषी इस भाई को क्षमा करो
जीवित है तात जो तुम्हारे अनुग्रह से,
जीवित है और चाहता है श्वास वायु से
भूधर उड़ाना, भाग्यहीन बाहुबल से
पार क्या करेगा महासिंधु ? तिमिंगिल भी
पाता नहीं पार जिसका है ? वसुसेन का
विक्रम नहीं क्या इसको है ज्ञात ? विश्व को
विजित किया था सुनते हैं एक मौर्वी से
जिस बलधाम ने, न रोकी गति जिसकी
देव दानवों ने, मानवों में जो अजेय थे
वीर कुल वंद्य वीर धर्मरक्षा हेतु वे
भूधर गिरे थे, गिरते हैं वृक्ष टूट के
जैसे जब चलता प्रभंजन है वेग से।
रक्षित सदैव हम रक्षक हमारे हे!
तुम अनुकूल यदि तो फिर क्या रण की
चिन्ता हमें होगी स्वयं काल या कि कर्ण हो ?
जानता हूँ, किन्तु चैन पाता नहीं चित्त है,
हाय सखे ! मानव अमानव की क्या कहूँ
और क्या कहूँ मैं अभी होनी जो कि कल है,
जब से सुना है वसुसेन हुआ सेनानी,
कौरवों का हर्षनाद और वंदि जन का
मंगल विजयगान; धन्य हे यशस्वी हे!

धन्य तुम प्राचीपति प्राची के दिगन्त में
उदित हुये जो यथा अंशुमाली तेजस्वी
तेजस हे ! दीप्त करो कौरव अनीकिनी।
पाकर तुम्हारा बल तेज जो निमेष में
पूरित करेगी जय नाद से दिगन्त को।"
देखता हूँ मैं तो यह सेना काल वश है,
कालवश मैं हूँ, बंधु मेरे काल पाश में,
डूबती है देखो रणभूमि, रक्त-स्रोत का
पारावार उमड़ रहा है, गति वायु की
रुद्ध सी पड़ी है, अवरुद्ध व्योमचर हैं,
घोर गतिमान वैवस्वत महिप जो
फेंक रहा अग्नि की शिखा है श्वास रन्ध्रों से,
दुर्निवार । चारों ओर जलती विभीषिका।
व्यर्थ राज भोग की मरीचिका में भूल के
मैंने जो बुझाया चिर पुण्य दीप अपना,
एकमात्र तनय सुभद्रा सुत तेजस्वी
हाय ! अवशेष अवलम्ब पांडुपुत्रों का,
क्या कहूँ मैं कैसे किस आशा-तन्तु में लगा
जीवन रहेगा अब? सम्पदा धनेश की
समता करेगी कहो कैसे उस धन की ?"

रुँध गया कंठ रुँधी वाणी अश्रुधार से
सिंचित कपोल हुये, डूबे नेत्र नीर में।
तुहिन कणों में यथा इन्दीवर, शोक का
विषम समीर चला, रोये वीर रोष से।
कालिन्दी किनारे यथा कालिन्दी सहोदरा
बैठी है हिडिम्बा। मौन नीलमणि आभा सी,
दानवी अकेली, महावृक्ष बट के तले।
मंजुल समुन्नत धरा है मंजु मंच सी
घेर कर जिसको जटायें वृक्ष राज की
झूला करती हैं रम्य, तापसी सी प्रमदा
श्यामांगिनी अग्नि के समीप शिखा जाल में
दीप्त हो रही है, वनराजि, लता, गुल्म हैं
दीप्यमान, होता है पयोधर प्रदीप्त ज्यों
विद्युल्लता जाल से, समुन्नत पयोधरा
धारण किये है चर्म केशरी का कटि में।
आवरण हीन स्कंध, वक्ष, भुजदंड हैं
आवरण हीन नाभि जलनिधि भँवर सी,
नग्न पुष्ट जानु; मूल कृष्ण कदली के हों।
दाँत से दबाती कभी ओठ कभी घूम के
पीछे देखती है अटवी की ओर ध्यान से,
बोलता जहाँ है कहीं सिंह, कहीं चीता है
और कहीं अन्य वनचारी ध्वनि करता।

सामने कलिन्दजा की ओर बढ़ा जाता है
भीमकाय नाग वह जैसे ताल तरु हो
भू पर अगतिशील, देख जिसे भय से
भागते कुरंग शिशु, जंबुक, शशक हैं।
हँस पड़ी भीमा। हँसी नीरद में चणदा।
घूम के उठाया महाशृंग वाम कर से
किम्बा भैरवी ने महानाग, पृष्ठ देश में
कांची हिली, लहर उठी हो काल नागिनी
यमुना सलिल में, लगा के शृंग मुख से
वामा उठी, तड़ड़ तड़ातड़ ताड़ित सा
फैला नाद, फूँका जब दानवी ने शृंग को
ध्वनित हुआ जो घोर, यमुना किनारे का
जल, थल, व्योम, वन, गूँजा एक चण में।
भागा नाग वक्री हो सभीत यथा सिंधु से
सरिता मिली हो मिला यमुना सलिल से।
भय से सिहर बनचारी छिपे नीड़ों में,
गहन लता में, विवरों में कोटरों में जो।
किन्तु हुआ शृंगनाद दूसरा तुरन्त ही
मध्य बन से या अटवी के उस पार से
जैसे हों अनेक वज्र एक संग कड़के,
किम्बा शृंगनाद स्वयं शृंगी ने किया हो जो
व्याप्त हो उठा हो दिशि, विदिश, दिगंत में,

काँपी हो वसुंधरा, प्रलय का मेघनाद हो
दारुण, रुकी हो गति सारी जीव लोक की।
उत्सुक हो देखा दानवी ने वनप्रान्त से
निकल रहा है महावीर, महा कौतुकी
नीलगिरि शृंग जैसे संचरणशील हो
दानव घटोत्कच, हिडिम्बा स्नेह सिंधु का
मंदर महीधर, उठाये वाम कर में
आहत कुरंग, धरे केसर कराल जो
खींच रहा दारुण कराल मुख केशरी
दायें हाथ से है। भय-कातर मृगेन्द्र यों
चल रहा मौन चित्र जैसे चित्रपट में।
निकला विषाद स्वर जैसे पिक कंठ से
बोली देख नन्दिनी" हे वत्स! अब खेल के
बीते दिन, कौतुक विनोद से विरत मैं
करती तुमको जो आज और जान कर भी
कर्म जननी का नहीं होना कभी ऐसा है।
माता के लिये तो सुत होता सदा शिशु है
बालक, किशोर, युवा, जननी का स्वर्ग तो
उतर धरातल को छूता है निमेष में,
रचता जहाँ है सृष्टि तनय विनोद की।
हाय! वत्स किन्तु घोर संकट में आज है

जननी तुम्हारी पड़ी रक्षा करो उसकी
तुम सा समर्थ सुन",

रोने लगी दानवी
फेंक मृग केशरी किरीट पर वेग से
चरण प्रहार कर बोला वीर रोष से,
"माता यह विस्मय की बात कहती हो क्यों ?
संकट में आज तुम कैसे कहो दास से
देखता नहीं मैं वनजीव यहाँ कोई जो
संकट का कारण बनेगा कभी जननी।
ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे स्वयं तुमने
दुर्गम अरण्य और पारावार जल में,
चारों ओर, गहन उपत्यका में गिरि की
देखा बारबार बल कौशल है दास का,
मात ! हो मृगेन्द्र, मद निर्भर मतंग या
किम्बा ग्राह किम्बा कालकूट अहि किसने
रोकी गति मेरी"

सानुराग बोली दानवी
आगे बढ़, कुंचित चिकुर राशि पुत्र की
हाथ से हिलाती हुई, "वत्स ! आज सुख से
करती अनृण हूँ तुम्हें मैं मातृऋण से

तुमको मिला है योग पौरुष दिखाने का
आज वत्स ! जाओ करो रक्षा पितृकुल की,
जननी तुम्हारी करती है यही याचना।

विस्मय से चारों ओर देखने लगा बली
भूला हुआ जैसे पथ खोजे वनप्रान्त में,
विस्मय से आँखें खिचीं, भौहें तनीं वक्र वे
अधर हिले यों बन्द नीलोत्पल डोले हों
पाकर तुषारवाही वायु की तरंग को,
बोली वन वासिनी हिडिम्बा—

"वृत्त पूर्व का
जानते नहीं हो वत्स ! विस्मय इसी से है,
कैसे कहूँ जननी अभागिनी तुम्हारी मैं
जनक तुम्हारे नर केशरी ने दासी की
सुधि बिसराई, राजपुत्र राजसुख में
भूले मुझे तात वर्ष बीते बीस तब से।
घूमती रही हूँ मैं उपेक्षिता विपिन में
शेष अवलम्ब से, अकिंचन के धन से
जीवित रही हूँ मैं तुम्हारे ही सहारे से।
कैसे मैं कहूँगी किस संकट से तुमको
छाती से लगा के असहाय गिरि, वन में

घूमती रही मैं, दिन, मास, वर्ष, बीते ये
वत्स ! किस भाँति क्या कहूँ मैं जानते हैं वे
जो कि जानते हैं इस विश्व की विडम्बना।
काली रजनी थी, घोर पावस के मेघ थे
दौड़ रहे नभ में, विलुप्त यह सृष्टि थी
काजल का जैसे था वितान तना घेर के
विश्व को, न हेरे दृष्टि देखती थी कुछ भी,
बरस रहे थे मेघ धँसती थी धरती
भीषण प्रतिध्वनि से गूँजते थे गिरि के
गह्वर तुमुल ध्वनि होती जब मेघ की।
नेत्र गति होती थी विलुप्त चकाचौंध से
कौंधती थी शम्पा जब नीरद के दल में।
होता यही भान था कि क्षण भर में अभी
होंगे धराशायी टूट भूधर, अचल जो
और धरा आप जा लगेगी रसातल में।
उमड़ रही थी जलराशि पारावार सी
भाँवर सी देती हुई गिरि के प्रदेश में
संग ले चली जो शिलाखंड वनराजि को,
ऐसे ही समय में वत्स !"

आँखें मूँद हाथ से
धरती पर बैठी सती होकर अधोमुखी।

काँपने लगी ज्यों काँपती है यथा वल्लरी
चलता है मारुत निशा में जब ग्रीष्म के।
थर थर काँपा वीर रोष में दहक के
बोला बली,

"माता ! हाय पीट के कपाल मैं
फोड़ता अभी हूँ और देखो अभी मरके
जाता यमलोक हूँ कि रोओ तुम जिसमें।
अन्यथा बताओ नाम धाम उस पापी का।
रोको इन आँसुओं को रोको यह वेदना,
जाता हूँ अभी मैं शीश काट कर उसका
जिसने छला था तुम्हें, राजा हो कि रंक हो
देव हो कि दानव हो, बोलो, अभी लाता हूँ।
कंदुक बनाएँ पूज्य चरण तुम्हारे ये
अधम शरीरी उस वंचक के शीश को।
जिसने रुलाया तुम्हें हाय ! बीस वर्ष है
जाना आज मैंने किस हेतु चिर पीड़ा से
पीड़ित रही हो तुम, रोते सदा देखा है
तुमको अकेली, कभी कुंज, कभी वन में
और कभी सरिता किनारे पर्वतों में मैं
खोजता रहा हूँ तुम्हें, और तुम छिप के
रोती ही मिली हो, हाय ! रात में भी नींद से

जागता रहा हूँ सुन सिसकी तुम्हारी मैं।
जाना आज मर्म यह, रोना अब छोड़ दो,
सह न सकूँगा इसे और देह अपनी,
काटूँगा अभी मैं अपने ही हाथ जान लो,
अब जो छिपाया कहीं नाम धाम उसका।"

छू गई हो जैसे कहीं बिजली शरीर में,
आहत सी पीती हुई अश्रुधारा रोष में,
गिरती सी उठ कर खड़ी जो हुई दानवी,
बोली "अरे नीच! जानती जो निज गर्भ से
जन्म दे रही हूँ पितृ निन्दक अभागे को
तब तो बहाती उस पावस की धार में
रात को ही हाय! नार पुरइन साथ ही।
मेरे लिए किन्तु वह मृत्यु की सी यामिनी
काली भयदायिनी हुई थी स्वर्ग वेला सी,
पाया जब तुमको, अँधेरी गुफा ज्योति से
जगमग हुई थी, सुना मोद गान स्वर्ग का
मैंने, रोम रोम मेरे जागे पुत्र प्रेम में।
और वही पुत्र तुम आज पुत्रधर्म का
करते हो पालन जो निन्दा से जनक की
जानते नहीं हो जननी की मनोभावना।
निश्चय ही मेरे इस प्राण का निवास है

वत्स ! इस देह में तुम्हारे किन्तु, उसको
छोड़ना ही होगा, छोड़ती हूँ उसे आज मैं
मान रक्षा हेतु उन देव तुल्य स्वामी की।
पुत्रमोह रोक क्या सकेगा पतिमोह को?
पुत्र, पिता, भाई का भरोसा जो कि नारी को
होता इस लोक में है, एक रस क्या कभी
टिक सकता है? कभी आता कभी जाता है,
किन्तु दान पति का अपरिमित अमोघ है
रंजित करता है जो कि दोनों लोक नारी के,
पूजती इसी से अबला है पद स्वामी के,
जिन चरणों की पूत छाया में अभय हो
महिमामयी है बनी नारी भवलोक में!
शीश तुम काटने चले हो प्राणपति का।
जानते नहीं हो नर केशरी को जिसने
मारा तव मातुल हिडिम्ब को था रण में?
देखोगे कभी जो वह पौरुष अदम्य जो
भूल सब जायेगा तुम्हारा दम्भ बल का।
एकबार और लालसा है इस मन में
देख भर पाती उन पावन पदाब्जों को
आँखें मूँद देखती रही हूँ सदा जिनको;
सींचती रही हूँ आँसुओं से निज मन में
जिन चरणों को, एक बार और देखूँगी।

संकट में आज पड़े हाय उन स्वामी को
भूल यदि जाऊँ, भूल जायेगी धरित्री भी
सहज क्षमा का भाव और संग अपने
लेकर समाएगी रसातल में लोक को।
तोड़ कर नाता आज जननी जनक से
जीवित रहो हे वत्स! मेरी यही कामना,
जाती हूँ स्वयं मैं आज सेवा हेतु स्वामी की।
रण में समाऊँगी समाती है दवाग्नि ज्यों
घोर अटवी में, जब मारुत के बल से
जलते हैं वृक्ष, लता, कुंज भस्म होते हैं,
वैसे ही जलेंगे वीर कौरवों के दल के
कृत्या सी रचूँगी साज नाश का समर में।
देखना है कैसे वसुसेन किस बल से
और किस कौशल से मारता है रण में
मेरे प्राणपति को कि उनके अनुज को
जब तक हूँ जीवित मैं।"

काटे ओठ दाँत से
दानवी ने आँखें मूँद, किन्तु पल भर में
देखने लगी जो निर्निमेष, पद्मराग से
चूने लगे मोती श्वेत, इन्द्र नीलमणि के
मंजुल कपोल सजे मोतियों की माला से।

रुकती थी साँस कभी तीव्रतर होती थी ।
रक्तिम कपोल, ओठ, नासिका के छोर थे ।
दहक रही थी अग्नि ज्वाला उन आँखों में ।
मर्मंतिक पीड़ा में अधीर यथा दानवी
संज्ञाहीन किम्वा हतचेत सी खड़ी रही ।

टूट के गिरा हो असुरारि के कुलिश से
पक्ष मैनाक का, गिरा त्यों वीर क्षण में
आतुर अधीर जननी के पद प्रान्त में ।
और आर्त्तवाणी में पुकार कहने लगा,
"माता ! यह कैसा कहाँ युद्ध है कि जिसमें
लड़ने चली हो तुम छोड़ हाय ! मुझको ?
जीवित रहूँगा भला विलग तुम्हारे मैं ?
जानती हो तुम तो कि छाया में तुम्हारी ही
जीता रहा अब तक मैं, सजग न होती जो
बाँध कर रखती न चिन्ता प्रेम जाल में
मुझको, तो निश्चय ही सर्पदंश विष से
किम्वा केहरी के नखघात से मरा था मैं ।
बालहठ मेरा दुःखदायी कितना रहा
कितना उठाया कष्ट मेरे लिए तुमने ?
भाग कभी जाता था अकेले जब वन में,
पर्वतों में या कि सरिता के तीर, लोभ में

पक्षियों के और मृग शावकों के साथ में
मंगल मनाने को, परन्तु परछाँई सी
पाता तुम्हें पीछे था। समर्थ जब आज हूँ
तोड़ सकता हूँ दंत मदमत्त गज का
जीवित मृगेन्द्र को उछाल मृग शिशु सा
खेल करता हूँ देखती हो तुम जननी!
कौन रिपु बोलो जो कि तात को समर में
मारने चला है? दो निदेश अभी रात को
भेजूँ यमलोक उसे चीर अस्थिजाल को।
किन्तु हाय! जानता नहीं मैं कौन तात हैं।
परिचय मिलेगा भला कैसे कहो उनका?
भूल गये कैसे तुम्हें, और कैसे भूले वे
मुझको, बताओ अपराध क्या हमारा था?
देखने की लालसा भी उनको हुई न क्यों
पुत्र और पत्नी को कठोर ऐसे क्यों बने
पूज्यपाद? कहती हो राजपुत्र वे जो हैं,
फिर क्यों रहे हैं हम दोनों गिरि वन में?
किसने सुना है कब बोलो पिता राजा हो
किन्तु पुत्र उसका वनों में रहे घूमता
दानवों के बीच सदा दानव कहाने को?
मरता हूँ हाय मैं अभागा आज लज्जा से
दानवों के पुत्र भी पिता का प्रेम पाते हैं

और मैं नृपेन्द्र सुत जाना नहीं मैंने है
कैसा प्रेम होता है जनक का कहूँ मैं क्या ?
और रोष करती हो तुम भी तो जननी
उन पर तो रोष नहीं देखता तुम्हारा मैं ?
भूल गये तुमको वे भूलो तुम उनको।
लौट चलें आओ फिर दानवों के देश को,
ब्रह्मपुत्र देखने को चित्त है ललचता,
कूदने की चाह हो रही है महानद में
आता यही मन में कि ग्राह को पकड़ के
जल में किलोलें करूँ, डूबूँ, उतराऊँ मैं,
लहरों के शीश चढ़ मोद में लपक के
छूलूँ वृक्ष शाखाएँ, लटकती जो जल में
पर्वत शिखर से कि उनको पकड़ के
उतर पड़ूँ मैं नगराज की तलेटी में।
देखो यह यमुना वही जो यहाँ जिसमें
देह डूबती ही नहीं, तृप्ति नहीं होती है,
देखने में कोई कहीं दानव न आता है
मल्लयुद्ध करता मैं जिससे विनोद में।
देखा नहीं कोई यहाँ गंधगज जिसके
शीश से द्रवित मद शीश पै लगाता मैं!
लाई किस देश में मुझे हो कहो जननी!
पर्वत जहाँ हैं नहीं, जल का अभाव है,

रोक नहीं पाते वृक्ष तपन पतंग की,
सूखी सब भूमि, कहीं फूल हैं न गुल्म हैं
सुनते नहीं हैं कान गुंजर भँवर की,
मधुचक्र मिलते नहीं हैं कहीं तरु में।
और यह अटवी कहो मैं इसे क्या कहूँ
दिन में तो छाया कहीं खोजे मिलती नहीं
छिप कर रहना हो चाहती परन्तु क्या
छिपने का कोई ठौर पाया कहीं तुमने ?
और छिपने की बात जानता नहीं हूँ मैं
क्या भय तुम्हें हो जहाँ संग संग मैं रहूँ ?
किन्तु यहाँ रहने की इच्छा नहीं मेरी है,
और आगे बढ़ना भी चाहता नहीं हूँ मैं।
कौन जाने आगे कहीं वृक्ष भी न होते हों
फिर तो रहोगी कहाँ ?"

आई हँसी दानवी
रोकने लगी जो वेग आहा बढ़ता गया
मानस विलासी रस हास्य के प्रवाह का।
फूटा स्रोत सुख का, चरम लाभ पाया हो
आँखों में तरंगें उठीं मोद के सलिल की।
कंटकित रोम हुये पुलक समाई जो
डोली देह वल्लरी वसंत की प्रभाती में

डोलती है माधवी ज्यों दक्षिण पवन से।
हाथों में उठाया अहा ! खींच पुत्रधन को
अंक में समेटती पुलक में पसीजी सी
बोली मोदवाणी में, तरंगें अहा ! बोली हों
मोदमयी यमुना की, राधावर मुरली
बजने लगी हो जब तीर पर उसके।
"पुत्र ! यदि जाना चाहते हो तुम लौट के
खेलना अभी है शेष ब्रह्मपुत्र नद में
तुमको, तो जाओ, विदा सुख से मैं देती हूँ।
आई हूँ यहाँ मैं इस दारुण समर में
प्राणनाथ जीवन की रक्षा लिये मन में।
मेरे हीनभाल में लिखा हो वत्स, चाहे जो
चाहती नहीं मैं अब जीना एक पल भी।
जानती नहीं मैं कल कालान्तक रण में
जीवित रहेंगे प्राणनाथ या कि मुझको
करके कलंकिनी सुहाग धन मेरा ले
वरण करेंगे परलोक ? नहीं रोना है
वत्स ! अब मुझको न छिप के रहूँगी मैं।
मान के लिए ही उन मानधनी स्वामी के
रोती मैं रही हूँ और छिपती रही हूँ मैं।
पांडुसुत भीमसेन विश्रुत जगत में
विजयी बली वे, देवतुल्य रूपधारी वे,

मार जरासंध को बचाये प्राण जिसने
कारागृह बन्दी एक सहस नरेशों के।
फैली यह कीर्ति कथा दानवों के देश में
और अनुरक्त मैं तभी थी हुई उनपे।
लोकत्राणकारी नरकेशरी को मन में
पूजने लगी मैं किन्तु मेरे ही अभाग से
भाई जो हिडिम्ब दानवेन्द्र बली मेरे थे
सह न सके वे नरश्रेष्ठ की सुकीर्त्ति को,
और जैसे दैव की भी प्रेरणा यही रही।
दानवों के बीच दंभपूर्ण मेघवाणी में
बोले महावीर,

"दानवों की यही विधि है
मारते रहे वे नरसिंह कहीं जो मिले।
मार जरासंध को यशस्वी भीमसेन है
आज बना; किन्तु उसे मार के समर में,
लेना प्रतिशोध मुझको है मित्रवध का।
पाया सदा आदर था मैंने जरासंध से
रोकी नहीं जिसने अहेर दानवों की भी
दंडनीय जिसने न माना नरबलि को
और नर मांस भोजी दानवों की विधि में
बाधक बना न कभी, किन्तु भीमसेन तो

सुनते हैं कृष्ण की विडम्बना में पड़ के
रोकने लगा है दानवों की नरबलि को।
छेड़ कर दानवों को मारता सदा है जो
भागकर दानव हैं आ रहे शरण में
मेरे, दैत्य कुल को अभय दान देना है
मुझको कि आप मरना है जूझ रण में।"

उत्सव मनाया दानवों ने तब हर्ष से
मांस और मदिरा की आहुति दी अग्नि में,
नाचे और गाये, दैत्य बाजे बजे घोर वे,
काँप उठी जिनसे धरा थी भयभीत सी।
चलने लगे वे, राह घेर मैं खड़ी हुई
हाथ जोड़ बोली, "हे सहोदर हो जाते तो
किन्तु छोड़ते हो मुझे किसकी शरण में?
आदर करेगा कहो मेरा कौन भाई है!
जब तुम रहोगे नहीं?

हँस कर बोले वे,
"डरती है क्यों रे, वह भीमसेन सामने
मेरे क्या अड़ेगा पलमात्र जो कि रोती है?
रक्तपान उसका करूँगा कंठ काट के।
तो भी डरती है यदि, मेरे साथ चल के

देख निज आँखों से कि कैसे उसे खेल में
मारता तुम्हारा बली भाई दानवेन्द्र है।"
स्नेह से हिला के वहीं मेरी शीर्षचूड़ा को
हाथ धर आगे बढ़े और तीन मास में
पहुँच गये वे पार गंगा के विपिन में
कहते जिसे हैं कुरु उत्तर, अदय हो
और हो अभय मारने वे लगे खोज के
मानव कुमारों को! न आई दया उनको
भागे नरनारी आर्त्तनाद करते हुये,
सूने पड़े ग्राम और सूने जनपद थे
कितने न जाने।

एक संध्या को अहेर से
अस्ताचलगामी रवि हो रहा था आये वे
अटवी के बीच जहाँ बैठी थी अधीर मैं।
बोले अब आओ चलें इन्द्रप्रस्थ पुर को
मानव विहीन यह धरती यहाँ की है
मिलते नहीं हैं अब मनुज कि मारूँ मैं।
होता कहीं भाइयों के संग भीमसेन जो
और साथ माता के समीप वनवास में
सूचना मिली थी तुम्हें अबला से जिसको
आई थी यहाँ जो पुत्रप्राण भीख माँगने

किन्तु जब काटा शीश मैंने असिधार से
उसके तनय का, न माना अनुरोध भी
मैंने था तुम्हारा उसे प्राणदान देने का।
तुमसे कहा जो उस नारी ने विकल हो
लेंगे प्रतिशोध भीमसेन इस हत्या का
आये हैं इधर ही वे—,

वत्स ! देखा मैंने जो
उत्तर की ओर अंशुमाली विभा फैली हो,
निस्पन्द निमेष देखती ही रहीं आँखें ये
कह सकती हैं नहीं वाणी से विहीन जो
और नेत्रहीन वाणी चाहती है कहना।
देखती रही मैं वह रूप नरसिंह का
उन्नत ललाट, स्कंध, वक्ष, भुजदंड थे
काली तेजवाली लटें घेरती थीं ग्रीवा को,
स्वर्ण कम्बु जैसे पड़ा इन्द्रनील जाल में।
आँखें वे सरोज पर बैठे मुग्ध भृङ्ग हों।
बंकिम अधर पुट नासा और भृकुटी,
देखती रही मैं हाय घूम कर भाई ने
देखा उन्हें और ललकार कर बोले यों
"कौन है रे निर्भय चला जो सिंह भूमि में
मानव विहीन किया मैंने इस भूमि को

हार थका आज कोई मनुज मिला नहीं,
उष्ण रक्त तेरा अहा! पीकर मैं जिसको
तृप्त हो चलूँगा इन्द्रप्रस्थ 'किस हेतु से'
बोले नरसिंह हँसी लीक लसी ओठों में।
रोष से अधर काट ज्वाला फेंक आँखों से
बोले दानवेन्द्र, 'भीमसेन वध के लिए।'
"आया हूँ यहाँ मैं यही सुनकर तुमको
हो न अब और कष्ट, कामना तुम्हारी जो
पूरी करूँ" कह कर हँसे जो नरकेशरी।
सिहर उठी मैं लगी धरती निरखने।
हाय! दैव क्या है आज होनी थरथर मैं
काँपने लगी जो प्राणनाथ मृदुवाणी में
बोले "दैत्यराज यह अबला अधीर हो
काँप रही देखो चलो आओ दूर चल के
लालसा तुम्हारी करूँ पूरी नरवध की,
शस्त्र मैं उठाता नहीं नारी दृष्टि पथ में।"
किन्तु क्रूरकर्मा बली भाई कहने लगे
मारूँगा तुम्हें मैं यहीं और निज आँखों से
देखेगी तुम्हारा वध मेरी यह भगिनी,
देखने के हेतु जिसे आई संग मेरे है।
ब्रह्मपुत्र पार से चली जो यहाँ तक है
संग संग मेरे, रक्त तेरा मैं पिलाऊँगा

इसको भी दारुण ये बातें सुन भाई की
आणान्तक पीड़ा से अधीर बनी मन में
कामरूप देवी को मनाने लगी हाय! मैं
मारें नरसिंह इस दानव दुरन्त को।
रक्तपान कैसे करती मैं प्राणधन का
जिनके चरणों की चाह दासी बनने की थी?
टूटे बली भाई नररत्न पर वेग से
वज्र सी चलाई गदा दायें घूम वे गये
धरती पर आकर गिरी जो धाँय ध्वनि से।
देखा इतने में नररत्न खड़े दूर थे
हँसते हुये जो हटे पीछे और कहते
'ले चला तुझे मैं दूर पापी! प्रण मेरा जो
टूटा नहीं अब तक है टूटेगा न आज भी
देखेगी न भगिनी तुम्हारी मुझे लड़ते।'
वैनतेय गति में वे आगे बढ़े पीछे से
दौड़े यमराज के समान दानवेन्द्र थे।
धरती पर माथा टेक रोने मैं वहीं लगी
आई निशा। अंधकार चारों ओर छा गया,
वज्र से भी दारुण सुनाई पड़नें लगीं
दोनों की गदायें, टकराईं बारबार जो।
छूटीं चिनगारी उठीं लपटें भयावनी,
टूटकर वृक्ष गिरे और पद चाप से

बार बार काँपी भूमि, भागे जीव वन के
भय से विकल गज भागे घोर रव से,
भागे सिंह, भागे मृगयूथ, एक साथ ही,
भूले जाति द्रोह वनजीव, छोड़ नीड़ों को
पक्षी उड़े व्योम में। सुनाई पड़ा हाय रे
घोर अट्टहास दानवेन्द्र का विपक्षी को
मार कर जैसे, मैं अचेत गिरी भूमि पे।
जाना नहीं मैंने तब, कितने विलम्ब से
मूर्छित रही मैं पड़ी भूमि पर, भाल में
मेरे यथा चंदन का लेप चढ़ा जागी मैं,
देखा व्योम मध्य सुधाकर सुधाधार से
सींच रहा धरती को फैली मंजु चाँदनी
और देखा देवदूत किम्वा पुण्यफल हो
मेरा देहधारी, वहीं मेरे पार्श्व तल में,
शीश पर मेरे धरे सरसीरुह कर को।
सहमी उठी मैं गिरी पावन पदाब्जों में
आँसू चले हर्ष के न रोके रुके, देह में
सिहरन डोली, वली बोले मृदु स्वर में
'देता हूँ अभय मैं भीमसेन देवि ! तुमको
काम नहीं भय का सम्हालो चित्त अपना।
स्वप्न में भी होगा अपकार नहीं नारी का
मुझसे कहीं भी, देवि, देख कर मुझको

द्रवित हुई थी तुम भूलता नहीं हूँ मैं।
पाई शक्ति मैंने अनजान उन आँखों से,
देखा एकबार जब तुमने, मुझे लगा
पान किया आज मैंने दुर्लभ अमृत है।
फूली देह बल का उभार बढ़ा अंगों में
और तब दानव का शीश गदाघात से
मैंने है विदीर्ण किया भूपर मरा है जो।
किन्तु यदि सत्य ही जो मेरे रक्त पान की,
कामना हो तुमको तो प्रस्तुत सदा हूँ मैं।
हाय! हाय! करती मैं शीश धर हाथों में
बोली उन अग्रज ने झूट कहा, देव के
मरने के पहले मैं मरती अवश्व ही
देखने की साध जिन चरणों की मन में
मेरे थी समाई उन्हें देख धन्य मैं हुई।
कहती जो उनसे मनोरथ मैं अपना
शत्रु नाथ के वे भला जीवित क्या मुझको
छोड़ते जो आज इन आँखों को जुड़ाती मैं?
अंक में समेट के दया के सिंधु बोले यों,
"हँसकर बताया यह देवि भेद आँखों ने
आते ही तुम्हारे, मृगनैनी नेत्रशर से
और क्या क्या कहने लगे वे हँसे मोद में
प्राणनाथ और हँसी मैं भी संग उनके।

और क्या कहूँ मैं पुत्र कैसे कहूँ तुमसे
चाहती नहीं थी कहना मैं किन्तु जाने क्या
होगा कल रण में इसी से कहा मैंने है।
जान ली है तुमने कहानी पिता माता की,
तुमसे छिपा है नहीं शेष अब कुछ भी,
जाओ लौट मेरे तुम प्राण दैत्य देश को।
और पुत्र मोह छोड़ मैं भी चलूं अब तो,
प्राणधन जीवन की रक्षा हेतु या जो हो
संग संग उनके मरूँगी रण भूमि में।"

बोला बली हाथ जोड़, "माता कहती हो क्या
जान लिया मैंने तात मेरे नहीं दोषी हैं,
जीवित हूँ जब तक मैं जननी जनक हैं
निर्भय सदैव मेरे, मुझको निदेश दो
जाऊँ मैं समर में, परन्तु कहाँ जाना है
जानता नहीं हूँ और लड़ना है किससे?
मुझको मिलेंगे कहाँ पूज्यपाद उनसे
जाकर क्या कहना मुझे है कहो जननी?

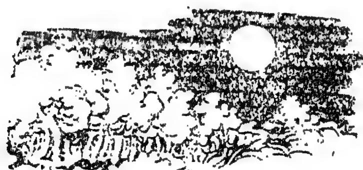
छाती से लगाया दानवी ने पुत्रधन को
बोली सविषाद "हाय! दैव क्या इसीलिए
पालन किया था जननी ने सुत रत्न का

किन्तु अब लाभ क्या विषाद से कि रोऊँ मैं ?
प्राणनाथ मेरे नरकेशरी समर में
विजयी सदैव, पुत्र उनका अजेय है,
दोनों एकसंग जो रहेंगे कल रण में
कैसा बली होगा वह कर्ण जो कि मारेगा
उनको ? परन्तु सुना कालदूत उसको
कहता है लोक हाय ! दुर्निवार बाणों से
फूँकता है वृक्ष, वन, पर्वत निमेष में।"

बोला वीर साहसी अमंद धीर वाणी से,
"छोड़ो यह चिन्ता, कहो तात, से कहूँगा क्या ?
कहना तुम्हें है कुछ माता ! पूज्यपाद से ?
"जाओ वत्स ! जीवित मैं देखूँ फिर तुमको
कामना यही है अब और प्राणपति को
दे रही हूँ अन्तिम सहारा आज अपना,
फिर क्या कहूँगी उनसे मैं ? इस युद्ध की
सूचना मिली थी दानवों से यहाँ आई मैं
और अभी मैंने नदी तीर पर कानों से
अपने सुना है बना सेनापति कर्ण है।
तीन दिन तीन रात मेरे साथ वन में
प्राणनाथ थे जब चली जो बात वीरों की
शत्रुओं के दल के अधीर होते देखा था

मैंने उन्हें नाम से ही कर्ण के परन्तु क्या,
वीरपत्नी औ वीरमाता जो बनी हूँ मैं
होने को अधीर ? वत्स ! जाओ वहाँ कहना,
"दैत्य बाला जननी हिडिम्बा का तनय मैं
नाम है घटोत्कच जनक भीमसेन हैं
पांडुपुत्र मेरे, कभी देखा नहीं जिनको
मैंने इन आँखों से न अग्रज को उनके
जानता हूँ धर्मराज धर्म धीर हैं जो वे,
और वीरकुल के शिरोमणि अजेय जो
मझले चचा हैं पार्थ माता ने विनोद में
जिनका सुनाया यशोगान बार बार है,
कैसे कहूँ कौन हैं वे ? चरणों में जिनके
शीश अब टेक कर मेटूँ साध मन की,
और वे नकुल सहदेव लघु तात हैं
दोनों कहाँ मेरे कहा माता ने कि प्रेम से
और सदा आदर से मान मुझे देंगे जो ?
रूप धरे चरम प्रताप पुण्य बल से
इन सब के हाँ, यदुराज कहाँ कृष्ण हैं ?
कौशल से और मनोबल के सहारे जो
पार करते हैं रहे संकट समुद्र से
मेरे पितृकुल को। प्रणाम करता हूँ मैं
चरणों में उनके। प्रणत एक साथ ही

होता यह दास चरणों में धर्मराज के,
उनके जो बंधु यहाँ बैठे हों शिविर में
और जो जो गुरुजन हों, सब को प्रणाम है।
मुक्त किया माता ने मुझे है मातृऋण से
और दे निदेश मुझे भेजा है कि जिससे
अनृण बनूँ मैं पितृऋण से समर में,
मारूँ वसुसेन को कि वीरगति को वरूँ।
हाथ जोड़ और शीश टेक कर भूमि से
मौन तुम होना वत्स! आदर से प्रेम से
तुमको उठायेंगे जनक वे तुम्हारे जो;
फूल बरसायेंगी सुरांगनायें व्योम से,
देववाद्य बजने लगेंगे, सुन जिनको
आनन्दाश्रु बैठ के बहाऊँगी अकेले, मैं
पुत्रवती हूँ जो धन्य हूँगी पुत्र गर्व से।"



सृष्टि धर्म

कामिनी निशा के ये कपोल स्वेद बिन्दु से
झलक रहे हैं। नत वदना निशीथिनी,
वंकिम भ्रूपात से निसापति को देख के
सकुच रही है पल पल में, विनोदिनी।
पाया है अभी जो दान, प्रेम का, प्रणय का,
यामिनी ने हिमकर से, रति-श्रम भार से
शिथिल शरीर मुक्त वेणी, केशराशि में
मुकुलित नयन वाली, लज्जा में विभोर सी
मूँद रही आँखें मंजु, नींद में ज्यों श्रम से
चाहती विराम। अहा! अमरपुरी में भी
सो रहे हैं देव, और सोईं देव बालाएँ।
शिथिल चरण बजती है नहीं सिंजिनी,
नूपुर की ध्वनि भी नहीं है कहीं कानों में,
हो रहीं उनींदी अप्सराएँ देवपति की
लोक मोहकारी इस दिव्य रंगशाला में।
कल्पना में या कि स्वप्न में भी इस लोक के
जीव चाहते हैं जहाँ एक बार जाना ही,
देखे बिना जिसके न होता कभी पूरा है
काव्यबन्ध कवियों का, प्रेमीजन जिसकी

कामना में भूलते विधान हैं जगत का;
जागते में, स्वप्न जिसके हैं रहे देखते,
मनुज किशोर और मानव किशोरियाँ;
जब से चली है यह सृष्टि और जब से
धन्वी पुष्पधन्वा ने, कुसुम शर साध के,
आसन जमाया उन इन्दीवर आँखों में,
रूपसी की शुकतुंड नासा में, अधर में,
बिम्बा और विद्रुम सदा हैं रहे जिनको
देख कर पीले, उन अम्बुज कपोलों में,
हेमकली कुच में कि नाभि में नितम्ब में,
किम्बा उस नागिनी सी बेणी की लहर में,
देखते ही जिसको अमोघ विष मोह का
प्राण में समाता, धीर मानव अधीर हो
छूट जाता पल में विवेक तप बल से।
पाए कवि कैसे मनोयोग वह जिससे
साहस उसे हो, केलिधाम में समाए जो
सुरपति के, देखे जो कि अमर विलासिनी
अमरी वरांगनायें उर्वशी, तिलोत्तमा,
रम्भा और मेनका सरीखी चिर यौवना
देव वनिताएँ, मोद मोह पाता लोक है
छूकर किनारा रूप सागर का जिनके।
डूब गए विश्वामित्र और निमिऋषि भी

डूबे जिसमें थे भाव और कवि जन हैं
डूबते सदा ही जहाँ, लालसा में पद्म की
शुभ्र पद्म आसन की, वीणापाणि भारती
मानस विहारिणी बजाती जहाँ वीणा हैं।
पुण्यमयी, तुष्टिमयी आहा ! जिस नाद में
मानव का मानस सरोरुह है खिलता,
और तब गन्धरस धार जो कि उससे
चल पड़ती है, लोक रंजिनी, जगत में,
कहते उसे ही कविता की सुधा, जिसको
पान कर मर्त्य अहा मृत्युंजय होता है।
काल और सीमा से विमुक्त मायापति की
माया यथा कवि की अबाध गति कल्पने !
बन्धन कहाँ है तुम्हें ?

वैजयन्त धाम में,
पारिजात गन्धवाही वायु मन्द मन्द है
डोल रहा नन्दन का, बरबस कानों में
फूँकता चराचर के मन्त्र मनसिज का,
पुलकित दिगन्त सब ओर गिरि शृंग हैं,
पुलक अधीर लता, वृक्ष स्पर्श सुख से
रागिनी के फैली है अभी जो देव धाम से
अम्बर में, आहा ! प्राण स्रोत स्वर लहरी

गूँजती प्रतिध्वनि सी वाणी ज्यों मरुत की
आज खुली, पीकर सुधा की और धन्य जो
आनन्दाश्रु मोद से बहाता जीव लोक में।

नन्दन किनारे यह रम्य सुरपति की
रंगशाला, भुवन विमोहिनी, रजत की
और शुद्ध सोने की बनी जो, जड़ी मणियाँ
जिसमें असंख्य, दृष्टि पाती नहीं गति है।
विभ्रम में जैसे पड़ी शरद विभावरी
कलश किरीटी व्योम भेदी शृंगजाल से
लिपट रही है, यथा लीला प्रेमकाल में
चाहती निशाकर को बाँधे भुज बन्ध में।
किन्तु जब जाती एक ओर, शशि घूम के
आता दूसरी ही ओर, और इस गति में
एक शशि होरहा अनेक पल पल है।
लोक लालसा से खुले मंजुल गवाक्ष हैं।
हाथी दाँत के बने जो, गन्ध रस भार से
विनत समीर जहाँ संचरित होता है;
पीकर जिसे ही यथा कल्प तरु कामना
पूरी करता है सभी देव कुल वन्द्य जो;
पूरी करता जो कहीं आज कवि मन की
कल्पतरु साध, बस एक क्षण को मुझे

देता वही दृष्टि और वाणी कालिदास की।
देख भर पाता आज वैभव विलास जो
अमर निकेतन का, और उसी वाणी में
लोकको सुनाता; फिर संकट समुद्र को
पार कर जाती यह जाति और जग में,
गौरव से ऊँचा शीश होता फिर इसका।
चिन्ता चूम पाती नहीं भाल को किशोर के
किम्बा किसी उत्सुक किशोरी के कपोल को।
उन्नत ललाट, स्कन्ध उभरे कुमार जो
धीर बुद्धि, वाणी, बल, विक्रम के निधि से,
और वे किशोरियाँ, बरोनियाँ थीं जिनकी
चूक मात्र से ही गड़ जातीं अरे! मन में;
पद्मराग रंग जो कि आनन में उनके
रास था मचाता, रँगता था उसी रंग में
कवि जन मानस को।

किन्तु सब स्वप्न है
अब तो हमारे लिए, हाय! रुद्ध वाणी से
कवि कर्मलोक में हमें है मौन रहना;
चाहता इसी से आज वाणी कालिदास की।
अधरामृत पान कर कविता कुमारी का,
नील जलदों को अर्घ्य देकर कुटज का,

झूम रहा आज भी वियोगी राम गिरि पै।
घर्षण से ज्या के, मृगया में भुजदंड जो
पीड़ित हुए थे, पुरुवंशी भाग्यशाली के
कण्व के तपोवन में, सुन्दरी शकुन्तला
लीला पद्मधारिणी को पाकर प्रणय में
पुलक विभोर बने देखा जिन आँखों ने,
और जिन कानों में सुनाई पड़ी गूँज थी
मालविका किंकिणी की, अमृत पयस्विनी
जिसने बहायी थी प्रियम्वदा अधर से,
शशिकला ऊर्वशी के भ्रूविलास लास में
विरही पुरुरवा के नेत्र स्रोतजल से
आहा! अभिषिक्त कवि वाणी कालिदास की
पाऊँगा कहाँ मैं भला; और अब कैसे मैं
पथ से विरत बनूँ?

सुरपति सद्म में
सोना चाहती है यथा यामिनी शिथिल हो।
हो चले विरत हैं चरण अप्सराओं के
ताल और लय की उतार पर नृत्य से,
झलक रहे हैं श्रमसीकर कपोलों में,
नासिका के छोर पर, ग्रीवा में, अधर से
आधे खुले आरही है गन्ध मृगमद की।

पान-पात्र रीते पड़े, मन्द ज्योति दीप हैं
अविरत काँप रहे, देख रूप ज्योति को,
किम्बा मधुधार जो कि अमरी अधर से
चलती रही है उसे पीकर हैं झूमते;
मसृण दुकूल अंग छिपते नहीं हैं वे
दृष्टि जहाँ टिकती नहीं है भला उनकी
कैसी उपमा की खोज ? वाणी अरी कवि की
चंचल न होना, उपहास पात्र होगी तू
संयत न होगी यदि।

हाथ धरे रति का
दक्षिण के द्वार से अनंग विश्वविजयी
करता प्रवेश अहा ! देवपति धाम में।
वासन्ती प्रभात में हिले हों पद्मदल ज्यों
मारुत से प्रेरित, सहास्य नत मुख हो
जोड़े कर देव वनिताओं ने विनोद में।
हँस पड़े देवपति देख रतिपति को,
आसन को छोड़ उठे और भुज बन्ध में
बाँधा उसे अमर विनोदी हँसने लगे।
काम का धनुष भुजमूल में है रति के,
अक्षय निषंग डोलता है संग वेणी के,
देख यह दृश्य भ्रूचलित अप्सरायें हैं

चन्द्रानन मोर के हँसी का वेग रोकतीं।
बोले सुरपति, "मित्र रीति विपरीत क्या,
तुमने चलाई आज ? विश्व मनमोहिनी
रति क्या चलायेगी अमोघ शर काम के ?
काँपता रहा हूँ अभी देख कर मित्र मैं
पारिजात कुंज में खड़े हो, रोष मुद्रा में,
तुमने चलाये जो अमोघ शर लोक में।
देखी सखा मैंने नहीं मुद्रा यह रोष की
शंकर समाधि तोड़ने को जब तुमने
कार्मुक टंकार किया और शर जाल से,
वेधकर तीनों लोक चौदह भुवन को,
छोड़ा यह दारुण विशिख था महेश पै।
आहत हुए थे योगिराज, उस पीड़ा को
रोक सके वे भी नहीं कालानल ज्वाला में
फूट कर फैली जो कि भाल के नयन से।
आज यह रोष कहो कैसे किया तुमने ?
कामज्वर पीड़ित जगत के विधान क्या
एक भी रहेंगे आज ? बोलो जीवलोक में
संयम विवेक छिपने का ठौर भी कहीं
पा सकेंगे ?"

बोला बली काम देवराज से,
“कैसे कहूँ आपसे अधीर आज कितना
हो रहा हूँ। देव, यक्ष, किन्नरों के कुल में,
मानव की बात क्या, अमानव विभूतियाँ,
उग्र साधना में सिद्ध दानव तपस्वी भी
कौन वह आत्मजयी आया सृष्टितल में
सफल रहा जो, मुझे रोक, सृष्टि धर्म के
रोकने में, विरत रहा हो आत्मरस से ?
स्वप्न में भी आयी नहीं कामना प्रणय की
रति रंग मोह नहीं आया जिस मन में,
दुर्निवार मेरे शरजाल सदा जिस पै
चूकते रहे हैं, एक मानव जगत में
मनसिज को मार कर, इच्छा मृत्यु आज है।
घूम सब लोक मैं मनोभव की गति से
आज जब लौटा अभी पारिजात वन में,
दारुण विशिख सेज ऊपर मनस्वी का
रूप जो कि देखा नहीं भूल सकता हूँ मैं।
पल मात्र को भी अन्तरिक्ष में निकट जो
उसके रुका था, पुष्पबाण करतल के
झुक गये नीचे, पड़ी ढीली ज्या धनुष की,
रीता हुआ अक्षय निषंग पल भर में।
चिन्ता देवपति को हुई जो लोक विधि की,

चिन्तित उसी से मैं अधीर जीवमाति की
रक्षा करने के हेतु पारिजात वन में,
सारे जीव लोक से समेट राग रस के
पुंजीभूत विशिख बनाये और तब से
उन्मादन और शर तापन से भेद के
चंचल करता हूँ रहा चित्त व्रती भीष्म का।
और शर सम्मोहन पुलक विभोर हो
मैंने जो चलाया, अभी पुलकित कंठ से
फूट पड़ी वाणी देवव्रत की "न पीड़ा दो
अम्बा अब विवश पड़ा हूँ शरशय्या में,
छोड़ी रूप माधुरी तुम्हारी व्रतरक्षा के
हेतु से निवारण किया जो धर्म सृष्टि का
पा रहा उसी का भोग, मृत्यु की भी मुझ में
रति अवशेष नहीं, मृत्युंजय होना भी
चाहता नहीं हूँ; किस लालसा से जग में
जीवन की कामना करूँगा? अनुराग से
हीन तो रहेगा नहीं अचल सुमेरु भी।
जलती अकेली समिधा भी नहीं कुंड में।"
"और इसी जीत में पुरस्कृत हुई हूँ मैं
विश्वजयी मन्मथ के धनुष निषंग से"
बोली रति रानी।

बजी वीणा शारदा की ज्यों।
संग संग हँसने लगीं जो देवबालायें,
अमर विनोदी हँसे; देवपति धाम से
निकली सुधा की धार धोती हुई जग की
तपन मरीचिका।

कटाक्ष शर रति के,
मन्द हास्य रंजित, चले जो कहा काम ने,
"देखो एक बार और इन्दीवर लोचने!
कहते हैं विष की महौषधि भी विष है।
दंड दे रही हो यदि जानो भवलोक में
होंगे अभी और देवव्रत, सुकुमारियाँ,
प्रणय अधीरा भग्नकामा शाप तुमको
देती ही रहेंगी। देवपति के निदेश से
जाना चाहता हूँ अब लोक मायापति के।
चरणों में बैठ कर उनके मिटाऊँ मैं
संशय जो चित्त में बसा है; किस बल से
मनसिज जयी था बना मानव जगत में?
और आज चंचल हुआ जो चित्त उसका,
भावना में कामना हुई जो उसे राग की
जानता नहीं मैं यह जीत या कि हार है
लोक के विधान की? बताएँगे इसे वही

लीलामय हैं जो और लीला यह सृष्टि है
जिनकी अगम योग माया में दिनेश भी
घूमता विवश यथा"

देवधाम सहसा
मुखरित हुआ जो हँसे देवपति, उनके
संग संग देव हँसे यक्ष विद्याधर जो
हँसने लगे वे, श्वेत पद्मदल व्योम से
अविरत चले ज्यों खुली वाणी आज विद्या की,
हँसने लगीं जो अप्सरायें विश्व मोहिनी।
साध्य नहीं कवि के लिए जो इस हर्ष को,
कामना के धन को, उतारे शब्दकोष में।
भावना विलासी भावुकों के भावलोक में
संचित रहेगा यह हर्ष इसी आशा में
धन्य हुई आज कविवाणी, देवव्रत की
विस्मय विभूति को निहार भर आँखों से।
वाणी के अनुग्रह से एरी कविवाणी तू
उतर धरातल को देवरस रागिनी
जीवगति संभवा तू जीवगति लोक में
रमण करेगी रागरस उपजावेगी,
कवि कर्म पूरा तभी होगा।

ढली यामिनी,
निद्रावश विवश चराचर जगत में
शिथिल पड़ा है, गतिहीन जीवगति है।
झाँक रहे नभ के गवाक्षों से नखत ये,
मर्त्यलोक सूना पड़ा कर्मलव हीन हो।
मानव का दम्भ जो कि इच्छा मात्र से अरे!
मेरु दंड बनता रहा है भव लोक का
होकर अचेत पड़ा जैसे काल पाश में
हँस रहे देख जिसे दिव्यलोक व्योम के,
जिनकी हँसी है बनी चाँदनी जगत की।
पुण्य भूमि आहा! कुरु भूमि यह जिससे
धारण किए हैं उत्तरीय कीर्तियश के,
सो रहे हैं वीर शिविरों में जहाँ सुख से।
मृत्यु भय जिनको नहीं है और जीने की
लालसा भी जिनकी मिटी है रणभूमि में।
जीवन मरण भेद हीन नरसिंह ये,
समरस भाव से, पराजय के जय के
झूले में पड़े जो गति अगति विहीन से,
जानते नहीं जो अन्य धर्म धर्मयुद्ध से
बढ़कर भी होता कहीं, काल की हथेली में
सोये पड़े।

पश्चिम की ओर रणभूमि है,
वनचर सभीत डोलते हैं मांस लोभ में
रक्त और मज्जा की नदी सी बही हाय रे!
ऐरावत जैसे भीमकाय गज भूमि में
सँड़ पीट प्राण छोड़ते हैं और अश्व ये,
सप्तश्रवा अड़ता था वेग देख जिनका,
रथ में जुते ही कहीं और कहीं रास में
प्राणहीन रक्त की नदी में पड़े नक्र से।
चूकते नहीं थे परिहास करने में जो
अन्तक से, विश्वजयी वीर खंड खंड हो
भूपर पड़े हैं। छिन्न शीश छिन्न कर हैं,
और कहीं छिन्न भुजदंड वर्म पहने,
मणिमय मुकुट पड़े हैं, हेमकूट के
अंगभंग जैसे पड़े देवासुर रण में।
चारों ओर फैले रत्नहार, हो अनल की
रसना ज्यों फैली, गिरे कुंडल वलय हैं
नागमणि वाले, अंश जिनमें तड़ित का
लहक रहा है नेत्र तेज से झुलसते
देख जिन्हें, फलक कृपाण असि धार में
चारों ओर तोमर, परशु में परिघ में
अष्टधातु निर्मित गदा में काल डोलता।
एरी कुरुभूमि! रक्त पान कर वीरों का

महिमामयी जो बनी धन्य आज तू जो है,
सावधान देखना कि मान उस रक्त का
मिटने न पाये कभी, वीरयोनि रहना।
शीश पर तेरे नद: अन्यथा पड़ेंगे हा!
शत्रुओं के, दस्यु हीन-जन्मा पाप पंक में
ठेल तुझे देंगे पुत्र तेरे, पराधीन हो,
गौरव की यातना सहेंगे भवलोक में।
वीरकुक्षि ! ऐरी कुरुभूमि ! पुण्यभूमि जो
वीरकुलधारिणी री, वीर भवलोक के
वीरधर्म साधन को आए थे शरण में
तेरे, आज सौंप तुझे कीर्तिधन अपना
लोक से सिधारे। कीर्ति कौमुदी जो उनकी
तम में विलीन हुई तब तो धरित्री का
धर्म तेरा भव से मिटेगा, भाग्यहीना तू
अधम उपेक्षिता रहेगी सदा हाय रे,
और तब कीर्ति देवव्रत से तनय की
तेरे लुप्त होगी, रवि जैसे राहु ग्रास में।
देख अरी! देख यह मध्य रणभूमि में
आँखें खोल देख, पुत्र तेरा देवव्रत है,
धीरव्रती, सेज पर बाणों की, अनल की
लपटें चतुर्दिक चली हैं जिसे घेर के,
मृत्युंजय मृत्यु की शिखा से कंठ बाँध के

खेल रहा अंक में समेटे काल बाला को।
देह में जमे हों यथा काँटे घने साही के
वैसे शर भेद के शरीर अस्थि जाल में
जा लगे हैं, फोड़कर स्फाटक ललाट को
वज्र शर अर्जुन के, तीन काल नाग ये
एक में गुँथे से, या कि छूट कर कर से
शूली के त्रिशूल गिरा आहा! हिमशृंग पै।
निकल रसातल से मंदाकिनी आप ही,
कामधेनु स्तन से चली हो धार दूध की,
सींच रही कंठ, आँखें आधी खुली व्योम में
जा लगी हैं, पलकें टिकी हैं गतिहीन सी।
शान्तरस देहधारी जैसे कालभूमि को
शान्त करने के लिए आया आज आप ही।
चिन्तन की आभा फूट फैलती है भाल से,
तालगत श्वास क्रमसिद्ध चलती है जो
छाती उठती है और बैठती हैं यंत्र सी।
निर्विकल्प जैसे हो.समाधि लगी धन्य रे,
देख जिसे आँखें झुकी जा रही हैं भक्ति से।
विस्मय विभोर मन्द वाणी हीन कवि की
शक्ति कहाँ पाएगी कि चित्रित करेगी जो
देव दैत्य मानव असिद्ध, देवव्रत की
सिद्धि यह, मृत्युंजय मानव की कामना

मनसिज जयी हो यदि ।
उत्तर की ओर से
आरही है नारी यह कौन मन्दगामिनी,
भय से विहीन, शोक मुद्रा में दबी सी जो
सहमी चली है आ रही जो ? पदतल हैं
जैसे जड़े धरती में, चकित विलोकती
चारों ओर, पैरों के समीप हाथ जोड़ के
रुक गई, आँखें टिकीं जा के धरातल से।
बोले देवव्रत "कौन आया यहाँ ध्यान में
बाधा पड़ी मेरे ? कुरु पांडवों के दल के
बीर जानते हैं सभी आधी रात बाद जो
चाहता नहीं हूँ बोलना मैं एक शब्द भी।
कंठगत प्राण रोकने के हेतु मौन हो
रहने में शान्ति मिलती है मुझे। कौन हो,
बोलो तुम ? वाणशय्या शायी देवव्रत से
किसका मनोरथ है शेष" ?

मेघमन्द्र सी
गूँजी वह वाणी, लगी थरथर काँपने
अबला। खड़ी जो वहाँ बोली शोकस्वर में।
"आर्य ! मैं अभागिनी हूँ कन्या शूरसेन की,
पांडु की सहचरी मैं अर्जुन की माता हूँ

कुन्ती, खड़ी दासी घोर संकट की बेला में
आयी मैं शरण में पितामह के, दुःख जो
आप को दिया। है अपराधिनी अभागिनी,
पाप की घड़ी में जन्म मैंने लिया, पाप में
लिप्त यहाँ आयी हो अधीर, यही आशा है
पुण्यव्रती पुण्य की शिखा में आज आप की
भस्म पापपुंज मेरा होगा" बली बोले यों,
"मर्मान्तक पीड़ा मुझे हो रही है देख के
कुरुकुल राजलक्ष्मी आयी रणभूमि में
मृत्यु खेलती है जहाँ। पौरुष विहीन क्या
कुरुजन हुए हैं अब जो कि तुम अबला
आयी वीरभूमि में मिटाने वीर कुल की
गौरव विभूति देवि? पार्थ की हो जननी,
धर्मराज और भीमसेन सम पुत्रों की
माता तुम धन्य वीरगर्भा किस हेतु से
आयी यहाँ? लौटो, लौट जाओ अभी, और जो
देना हो निदेश मुझे भेजो सव्यसाची को;
भेजो भीमसेन को, या चाहो यदि और जो
मान मुझे देना, भेज देखो धर्मराज को,
यदुरत्न कृष्ण अनुशासन तुम्हारा ले
दास को करेंगे कृतकृत्य, आप आवेंगे
मुझको सुनाएँगे मनोरथ तुम्हारा जो,

निश्चय ही जानों देवि। स्वप्न में भी मुझसे
होगी अवहेलना तुम्हारी नहीं। नारी की
छाया मात्र से भी सदा डरता रहा हूँ मैं।
जानती हो तुम तो कि अर्जुन के रथ में
देख के शिखंडी को, चन्द्रमुखी रमणी
मान उसे, मैंने शस्त्र फेंके मुख फेर के,
और तब पीठ में लगे जो शर मेरे थे,
गांडीव ज्या से चले, शय्या बने मेरे हैं।
कुलबधू मेरी तुम जानती नहीं हो क्या
व्रतधर्म मेरा? रूपनारी का न आँखों से
देखना मुझे हो कभी और वाणी कानों में
नारी की न मेरे पड़े। व्रतभंग दोष से
रक्षा करो मेरी अनुरोध मेरा तुम से
लौट तुम जाओ"।

हो अधीरा रुद्ध कंठ से
बोली पृथा, सफरी पड़ी ज्यों नदी तीर की,
रेती में निरखती हो नीर निज आँखों से,
"जानती हूँ व्रत और व्रतभंग दोष भी
किन्तु हूँ विवश देव! साहस बटोर के
आयी हूँ समीप हतभागिनी कहूँगी क्या
आप से भी कैसे? हाय! कैसे सव्यसाची से,

धर्मराज से या भीमसेन से कहूँगी मैं ?
काँपती है वाणी जलती है हाय रसना
कुलवधू आपकी मैं हाय ! सुतलोभ में
कहती हूँ कहती कभी जो नहीं प्राण के
लोभ में भी, पुत्रप्रेम अबला के धर्म का
ध्वंस करता है सदा, निन्दा अपयश की
अग्नि भी तो चन्दन की पंक सी है लगती
पुत्र प्राण कामना में" ।

बोले व्रती, "तब क्या
बीर माता भय से अधीर तुम आयी हो ?
अर्धरथी कर्ण किस शस्त्रबल से कहो
मारेगा धनन्जय को जो कि तुम्हें भय हो ?
वामन क्या तोड़ कभी लेगा व्योम तल के
तारक समूह या कि शशि को, जो भय से
काँप रही मेरी कुल लक्ष्मी यों अधीर हो ?
अर्जुन की जननी डरी जो सूतसुत से
सुन कर लोक क्या कहेगा देवि ! सोचो तो ?
बाँधा जिस वीर ने अचल सेतु बाणों का
विक्रम समुद्र बीच द्रोण के, जगत के
वीर सभी विश्वजयी मानते हैं जिसको;
देव नर दैत्य रण में जो सदा विजयी

अब लौं रहा है, देवि ! मार कर कर्ण को
दिव्य देव शस्त्रों से सुलाएगा समर में।
देव वनिताएँ बलि जाएँगी सुयश से
देवि ! हे तुम्हारे, तुम धन्य वीरजननी
हैमवती विक्रम से, जैसे शक्तिधर के।"

"हाय देव कैसे मैं कहूँगी, किन्तु अब तो
चाहती क्षमा हूँ, कुरुकेतु पुत्र मेरा है,
कालपृष्ठ धारी कर्ण। मेरे भाग्य दोष से
लोक कहता है उसे सूतसुत, आज भी
अर्धरथी कहते हैं कुल के विचार से।
राधा बनी जननी जो अधिरथ जनक है
मेरे पापफल से, बहाया हाय मैंने था
गंगा के सलिल में प्रभाकर के पिंड सा
जन्मकाल में ही हाय ! छाती फटी जाती है।
पापिनी कलंकिनी मैं आयी जो शरण में,
लोकलज्जा भय से बहाया जिस शिशु को,
इन्दीवर नेत्र और अम्बुज अधर वे
कातर हिले जो, लगी काँपने अभागिनी
देवसरि नीर में खड़ी मैं गत चेत सी।
आया जब चेत और दृष्टि चली धार में
लुप्त हो चुका था वह रंभा दंड जिसमें

प्राण सिमटा था हाय ! जननी कुमारी का।
लोकविधि कातरा जो लोक अपवाद से
अब तक छिपाया यह सत्य इस दासी ने,
पापिनी कलंकिनी हूँ किन्तु ब्रती माता हूँ,
विधि के विधान से। कहूँ मैं अब और क्या ?
लोक विधि जानती नहीं है कभी जननी
पुत्रमोह प्राण में समाता जब हाय ! रे।
याचना है आज चरणों में बसुसेन के
जीवन की, लज्जा छोड़ आई यह दासी है
जिस फल हेतु, अपवाद का अनल भी
शीतल हो मेरे लिए पाऊँ यदि उसको।
जागी आज जननी की ममता है मन में
मेरे और उल्का सी अधीर यहाँ आई हूँ।
पार्थ से विशेष, यदि मानें सच आप जो
तब तो कहूँगी, प्रेम मेरा कर्ण पर है।
आज, वह सद्यःप्रसूत सुत आँखों में
डोल रहा अंचल में प्राची के अरुण ज्यों।
पातक से मेरे हीन जन्मा रहा लोक में
कुक्षिमणि मेरा, मनस्ताप में जला है जो
विश्व विजयी भी कुलजन्म के विचार से।
होगी तो रुकेगी नहीं किन्तु, देव चाहें जो
आप यदि, कर्ण और अर्जुन का रण तो

रुक सकता है कल, जन्म एक माता से
दोनों ने लिया है।"

"रण रोकने से लाभ क्या
सोच कर देखो देवि!" बोले वली शोक से,
"कारण है कर्ण एक मात्र इस रण का।
जन्मकथा उसकी सुनी जो आज तुम से
हो रहा द्रवित चित्त मेरा, विधिवश है
मानव शरीरी फिर कैसे तुम्हें दोष दूँ?
किन्तु व्यर्थ तुमने बताया यह वृत्त है,
कुरुभूमि लज्जा से धँसेगी इसे सुन के,
कौरवों की कीर्तिकला लुप्त होगी पल में।
फैलेगी कहीं जो यह बात पुत्र पांडु के
युद्ध से विरत जा छिपेंगे घोर वन में,
और महामानी कर्ण पल भर भी नहीं
जीवन की कामना करेगा। विधिवश जो
लोक में उपेक्षित रहा है हीन जन्म से,
अर्द्धरथी मानता रहा हूँ उसे मैं भी जो
एक मात्र कुल के विचार से, नहीं तो क्या
इस भवभूमि ने कहीं भी और देखा है
दान और शौर्य की विभूति, जो कि कर्ण की
समता करेगी कभी? किन्तु तुम जननी

जिस नरसिंह की न हीन करो उसको।
जानता नहीं है लोक जननी जनक को
विश्वजयी और विश्वदानी वीर कर्ण के,
कीर्तिधनी, कुल और वंश की विभूति से
वंचित भी देवि, निज पौरुष के बल से
और दानव्रत से यशस्वी बना लोक में।
धन्य किया उसने भी धन्य कुक्षि कुन्ती की।
अब तुम न मेटो यह कीर्ति रेख उसकी
मोह में अधीर बनी; नारी मोह पाश में
बाँधकर बुद्धि बल विक्रम विवेक भी
मानव की नीति मेटती है धरा धाम से।
मोहमयी नारी मोहशृंखला से नर को
मुक्त करती जो कहीं तब तो जगत में
स्वर्ग आप आता, और विग्रह अभाव की
लुप्त शिखा होती समरस धीर धर्म से
सुख और दुःख का विभेद मिट जाता ही।
कामना तुम्हें हो देवि! कर्ण के शरीर की;
भूल तुम जाओ वीरकीर्ति वीर सुत की
और भूल जाओ धर्मभावना भी उसकी,
फिर भी तो सोचो भला काया क्या अमर है?
मानव मृत्युंजय बना है कीर्ति धन में।
मोह हेतु आई जो समीप आज मेरे हो

जीवन की रक्षा चाहती हो वसुसेन के।
युद्धव्रती होवेगा विरत कहो रण से,
कालकूट नागों में बँधा है प्राण जिसका
खोल उसे देगा वह जननी के मोह में?
खोल उसे देगा वह मोह में भी प्राण के?
सम्भव नहीं है जानता हूँ देवि! उसको,
धर्म की धुरी को, कर्मवीर वसुसेन को।
लौट तुम जाओ और सत्य ही जो सुत है
कर्ण भी तुम्हारा? फिर भी जो अविचार से
पुत्र मोह वश में पड़ी जो भूल जाती हो
मारे गए वीररत्न कितने हैं विश्व के
इस रणरंग में। क्या जाना नहीं तुमने?
वीरहीना आज है वसुन्धरा, गिरे हैं वे
वीरमणि मुकुट कि जिनसे धरा का था
मानदंड अडिग, गिनाऊँ तुम्हें नाम क्या?
भानुमती पुत्रशोक में है पड़ी पृथ्वी में
और है सुभद्रा भी गिरी तो पुत्रशोक में।
दोनों पुत्रवधुएँ तुम्हारी, भला तुम क्यों
चाहती हो और एक पुत्र पाना जग में?
कैसा यह स्वार्थ और कैसा अविचार है?
सृष्टि की विभूति भोगने को तुम्हें कामना
हो रही है कैसे जब लीक कुरु वंश की

मिट रही लोक में है विधि के विधान से ?
जी रहा धनंजय है विश्वजयी फिर भी
पुत्रवधू उसकी बनी जो बालविधवा
देखती नहीं क्या इसमें ही लिपि होने की,
जोकि अभी और फलप्राप्ति हेतु आई हो ?
रोका नहीं तुमने क्यों कृष्ण और कृष्णा को
दोनों ने जलाया जब कालानल रण का,
बासुदेव बनकर चले जो संधिदूत थे।
जानती हो तुम तो कि बुद्धि बँधी उनकी,
कृष्णा की विमुक्त वेणी पाश में कहूँ मैं क्या ?
कौरव सभा में संधितन्त्र खोल बैठे वे
रोष और विस्मय से काँपी आप धरती।
पाँच क्षेत्र माँगे चार क्षेत्र चार सीमा के
एक अभी शेष, जैसे वामन ने बलि की
पीठ नाप ली थी डग आधे में, अमर्ष से
कुंठित सुयोधन ने पीठ दिखलायी थी
हँसकर। हँसे थे सभी परिषद, मैं भी था
बैठा वहाँ, कुंचित ललाट पर कृष्ण के
क्रूर दुर्दैव का भृकुटिभंग जैसे था
खेल रहा।

बोले धृतराष्ट्र 'वासुदेव हे !
ठौर कहाँ जा कर बसेंगे सुत मेरे ये,
बारणावत, खांडव के साथ वृकप्रस्थ भी
और इन्द्रप्रस्थ भी तो माँग रहे तुम हो
फिर क्या है शेष कुरुभूमि में बनेगा जो
पाँचवाँ विभाग पांडुपुत्रों का कि जिससे
तोष मैं तुम्हें दूँ ! और भेजूँ कहाँ पुत्रों को ?
बन्द नेत्रवाली सती गांधारी कहेगी क्या ?
कुलद्वेष नीति जो चली थी भाग्यदोष से
शान्तनु के कुल में जने थे पुत्र कुन्ती ने
जब और जैसे। पर मैं तो सदा उनको
पुत्र मानता ही रहा, कन्या है द्रुपद की
अग्निशिखा, कौरव अरण्य को जलेगा जो
शान्त नहीं युक्ति से हुई जो यह जान लो।
राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर के मैंने जो
भेजा था सुयोधन को, और मित्र भाव से
कर्म सभी करता रहा जो किन्तु, अन्त में,
अन्धपुत्र उसको बनाया जब कृष्णा ने,
मर्माहत पुत्र, अपमान में अधीर हो,
द्यूत की सभा में शकुनी के कूटमन्त्र में
जा पड़ा जो पांडवों के अग्रज भी जिसमें
अन्ध अविवेकी बने, हारे धन धरती,

हार गए चार भाइयों को निज देह भी
हार कर हारे जब द्रुपद सुता को भी।
सत्य है, सुयोधन ने बस प्रतिकार के
भाव से, बुलाया उसे द्यूत की सभा में था,
और मन्दबुद्धि ने दी संज्ञा उसे दासी की।
नारी ने किया था अपमान नर उसका,
बदला चुकाने चला निश्चय ही वत्स है!
जान लिया मैंने कुरु वंश अब डूबेगा;
सूचना मिली जो, पूज्यपाद देवव्रत का
लेकर सहारा जब आया द्यूतधाम में
विष बुझे शब्द द्रौपदी के पड़े कानों में,
दे रही थी प्रतिफल जो मुझको अभागा मैं
जीवित था सुनने को अपशब्द उसके।
राज्य धनधाम पांडवों का सभी देना मैं
चाहता तभी था, पर प्रतिहिंसा रूपिणी
काल की शिखा सी पांडवों को वशीभूत सी
करती जो बोली याज्ञसेनी, सिर थाम के
बैठ गया धरती पर हतबुद्धि सा जो मैं।
पुत्रबधू मेरी, छोड़ शील और लज्जा को,
राजनीति मुझको सुनाने लगी। मौन मैं
सब सुनता ही रहा और जब अन्त में
उसने सुनाया,

'कौरवों के दानरूप में
राज्य हम लेंगे नहीं, पौरुष के बल से
पांडुसुत वीर यदि होंगे रणभूमि में
काट कर शीश शत्रुओं के पाद पीठिका
जब वे बनाएँगे, बनेंगे अधिकारी वे
कुरुभूमि भोग के रहेंगे शत्रुहीन हो।'
हाय! हाय! करता रहा मैं कुरुकुल के
केतुव्रती देवव्रत कामना विहीन जो।' "

मौन हुए वीरकुल गौरव जो पल में
आँखें मुँदी, श्वासक्रम धीरवेग में बढ़ा।
कुंचित भृकुटि, वक्रनासिका, अधर जो
दंतों तले आ पड़ा, यशस्वि यथा पीड़ा को
दारुण शरों की रोकने में लगे रोक के
प्राण का प्रवाह; शिला जैसे पड़ी हिम की
वैनतेय पंख जिसमें हों गड़े।

मध्य से;

काँपती सी आयी मन्दवाणी तब कुन्ती की,
"जारही है दासी, हाथ जोड़ क्षमा माँगती
देव से, दिया जो कष्ट आज अविवेक में,
सत्य ही है कृष्ण और कृष्णा इस युद्ध के

कारण बने हैं। पुत्र मेरे परवश हो
मन्त्र में पड़े हैं जब कृष्ण और कृष्णा के
तब तो नियति अवलम्ब अब मेरी है।"
"किन्तु क्या

विभव और सुख भोग लिप्सा से
मुक्त तुम हो सकोगी भाग्यवश जननी ?"
वीरकुलकेशरी अधीर कर्ण बोला यों
उतर पड़ा हो यथा मंगल के लोक से
मंगल शरीरधारी देव अंश से बना,
"फिर क्या नियति का सहारा तुम्हें मोह में,
मोह के समुद्र में पड़ी जो विधिवश हो।
आकर सुनाया अभी वृत्त तुमने जो है
लोक महिमा की निधि पूज्य पितामह को
सुनता रहा हूँ, था सुनाया स्वयं तुमने
मुझको भी गंगा के किनारे और तुमको
मैंने था भरोसा दिया अर्जुन को छोड़ के
आहत करूँगा नहीं और किसी भाई को।
जानती हो तुम तो कि पुत्र मैं तुम्हारा हूँ
किन्तु ज्ञान मुझको हो कैसे तुम जननी
मेरी थी ? परन्तु बात मान के तुम्हारी मैं
छोड़ता रहा हूँ भीमसेन को समर में।

बार बार करके पराजित, निरस्त्र जो
भग्नरथ, भग्नकेतु, प्रत्यंचाविहीन भी
जी सका है, अब तक तो जानो अनुकम्पा के
कारण ही मेरे। तुम माता हो कि अन्य हो
पूजनीया मेरी हो सदैव, जाति नारी की
मातृभाव से ही पूजता मैं रहा, श्वास है
जब तक शरीर में सदैव मातृभाव से
पूजता रहूँगा महिमा की निधि नारी को।
हीनजन्मा राधा ने उठाया जब मुझको
गंगा के सलिल से लगा के मुझे छाती से
स्तनदान मुझको दिया जो सुना मैंने है
फूटी धार पय की थी उनसे पला था मैं।
वन्ध्या बनी पुत्रवती पय की विभूति से।
हीनजन्मा नारी जहाँ, जीवन की मूरि हो,
पूत पयोधर से जिलाए परशिशु को,
स्नेहमयी धरती का भार जिस मन में,
कैसे फिर शंका वहाँ नारी में कुलीन जो?
कहती हो जन्म तुमने था दिया मुझको
पुण्यमयी, पद में तुम्हारे हूँ प्रणत मैं
जननीमय मुझको मिला जो यह लोक है
केवल प्रसाद से तुम्हारे भगवति हे!
किन्तु अब रोको निज वाणी, यह पुत्र जो

सामने खड़ा है एक मात्र सुत राधा का
जानो इसे। राधा सुत लोक कहता है जो
कुलबल विहीन, पुरुषार्थ का सहारा है
मेरे लिए उसमें भी, किन्तु पुत्र कुन्ती का
बन कर गिरूँगा पुरुषार्थ से भी जननी!
कुल तो मिलेगा नहीं जानती हो तुम भी।
अशुभ रहा है यह लोक शुभे! बल दो
जिससे कि पाऊँ वह लोक शुभकारी मैं।
मेटने चला था कभी लोक का विधान जो
कहता ही आया सदा पूजित है गुण से
इस भव-भूमि में मनुज, कुल वंश की
चलती विडंबना रही है अब तक जो
मिटकर रहेगी, पुण्यपर्व वह आयेगा
मानव समान सुखभोगी दुख भोग से
छूट कर सहज बनेगा अधिकारी जो
देवपद का भी। भाग्य उसका सराहेंगे
देवता भी मोद मान, किन्तु अभी तुमने
जो कुछ कहा है पूज्यपाद से, उसी में है
अग्नि-लिपि होनी की, सदैव इस जग में
कुल और वंश का विधान जय पावेगा।
ऐसा जो नहीं हो फिर एकरूपा सृष्टि क्या
चलती रहेगी? वहीं सम्भव है जय भी

हो जहाँ पराजय का भोग, कुलजन्म से
पूजित रहेगा नर, पुष्टिफल पावेगा,
वंश के विधान से; विधान अन्ध विधि का
पूरा इसमें ही सदा होगा। इस हेतु से
सोच लिया मैंने नहीं कामना करूँगा मैं
जीवन की ओर अब कामना विहीन हो;
युद्धधर्म रक्षा के लिए ही, भव बन्ध के
बन्धन सभी मैं काट फेंकूँगा निमेष में।
वचन दिया जो कुरुराज को निबाहूँगा
अन्त तक लड़ता रहूँगा उसी पक्ष में।
तोड़ पतवार नाव सिन्धु में बहाऊँगा,
काल की लहर उसे बोरेगी अतल में।
चाहता क्षमा हूँ कटु शब्द जो कहे हैं ये।"
कहकर झुका जो वीर कुन्ती के चरण में,
रोने लगी जननी अधीरा, मर्मभेद के
आँसू चले, फूटी ध्वनि वेदना की जिससे!
रोने लगे देख जिसे तारे व्योम तल के,
होकर द्रवित मन्द जिससे समीर भी
बहने लगा जो, गई सींची आप धरती
आँसुओं से, सृष्टि यथा मोह में द्रवित हो
माया-बन्ध खोलने लगी जो, मुक्तभाव से
खुल गए दिव्यचक्षु जैसे वहीं कुन्ती के।

मुग्ध मन हाथ फेरती जो रही कर्ण के शीश पर बोली,

"धन्य पुत्र, धन्य जन्म से
तुमने किया जो मुझे, आज पुत्रफल भी पा गयी मैं वत्स ! तुम राधा के बने रहो, युद्धधर्म निर्भय हो पूरा करो जिसमें नीति की विजय हो"।

"परन्तु किस भाँति से"
बोला बली, "सोचो अब शत्रु समझूँगा मैं ममता के सुतों को इस हेतु अब जान लो विधि का विधान है कि पाऊँ वीर गति मैं। फिर माँ अमोघ शक्ति वासव की कल जो अर्जुन न आये रोकने को मुझे तब तो निश्चय ही जानो है निरापद समर में तनय तुम्हारा, जब काल का वरण मैं चाहता हूँ करना स्वयं तो फिर मुझको कौन रख लेगा ? अब जाओ तुम जननी ! आया था यहाँ मैं पूज्यपाद पितामह के चरणों में बैठ कर लेने शुभ कामना और क्षमादान जो मैं पौरुष के दम्भ में भूल गया उनकी विभूति और रण से

विरत रहा मैं जब सेनापति वे रहे।
इसमें भी जैसे निर्देश था नियति का
माता! अब जाओ अविलम्ब, और मुझको
अवसर दो।"

कुन्ती उठी और हाथ जोड़ के
चल पड़ी जैसे कुछ भूली हुई पीछे को
रुकती सहमी सी जब दूर दृष्टि के हुई,
शीश चरणों में झुका भक्ति में विभोर सा,
बोला बली, "चाहता क्षमा है अविनय की
सूतसुत कुरु कुल केतु से, निदेश हो
दास को जो छूटे परिताप से, की जिसने
पुण्य चरणों की अवहेलना।"

दिगन्त में
गूँजी यथा व्योमवाणी बोले व्रती भीष्म यों
"वत्स! मनस्ताप हो रहा है मुझे आपही
अर्धरथी अभिधा दी मैंने वीरकुल के
गौरव किरीट को जो जन्म के विचार से।
करते मनस्वी नहीं चिन्ता कभी गत की
नरसिंह! भूलो भूत, आवरण माया के
खोल कर देखो विश्वरूप तुष्टकाम हे!
यह भवलोक सेतुरूपी बना, इससे

पार करते हैं सुधी, किन्तु हतप्रज्ञ जो
करते इसी में रचना हैं जब गेह की
गेही बनने को; मन्दभाग्य असफल हो
देते हैं सदैव दोष विधि के विधान को।
तुम हो मनस्वी, वीतराग, तुम्हें अब क्या
वत्स! उपदेश करूँ? आओ देवव्रत की
बाँहें अभी बाण से बिधी हैं नहीं उनसे
एक बार बाँधू तुम्हें, वाणीहीन मन है।"

कालपृष्ठ धारी बढ़ा आगे बाणशय्या के
जाकर समीप जब बैठा महीतल में,
धीर देवव्रत का भी दायाँ हाथ प्रेम से
हो कर अधीर हिला शीश पर उसके।
आनन्दाश्रु नीर के चले जो, कंठ आप ही
नीचे झुका और भाल जाके टिका वक्ष से
मृत्युंजय भीष्म के। सुधाकर भी नभ में
मोद-मग्न जैसे हो विवश धरातल के
उतरा समीप। धरा डूबी सुधा-धार में।



विषाद

अनिल सराग, सिहराता सा दिगंत को
बह रहा मन्द-मन्द, अन्तिम चरण हैं
यामिनी के, चपल रहे जो निशाकर के
संग-संग,. शिथिल पड़े हैं, निशापति भी
ले रहा विराम ज्यों प्रतीची के क्षितिज में।
क्षीर सिन्धु लीन धरातल व्योमतल है,
क्षीर सिन्धु से हो कढ़ी कौस्तुम सुमणि ज्यों
अम्बर में, आहा! मोदमूरि मृगपति है,
धो चुका कलंक अंक से जो सुधाधार में।
लोक हितकारी हित साधना में लोक की
पाप मुक्त जैसे हुआ, गौतम के शाप से
आज अभी छूटा, कालिमा है मिटी जिसकी।
देखने में आती नहीं अंक में मयंक के
अपयश की रेखा, कुरुभूमि यशधारा में
घुल गई, आहा! अभिषेक कर जिसमें
दिव्य देह धारी हँसता है सोम व्योम में।
मंजुल किरनकर जग में पसार के
मोहिनी कला का रसदान कलानिधि है
दे रहा, खुले हैं पंख कल्पना के स्वप्न के।

छोड़कर शय्यातल भावना मनुज की
रच रही कितने अनोखे नए लोक ये।
कामनाएँ पूरी सभी, लालसाएँ पूरी हैं,
प्रेमिक को प्रेमिका मिली है चिर संगिनी,
रंक को मिली है निधि, रोगी देह सुख में
भूला परिताप सभी, यौवन के रंग में
जग की जरा है रँगी, रीढ़ झुकी सीधी है।
उभरे उरोज, तने वक्ष, तनी ग्रीवा है
अधरों में लालिमा चली है किसलय की।
उत्फुल्ल आँखें, नील इन्दीवर में पड़ीं
अम्बुज की पंखड़ी, बरोनियाँ तनीं हैं जो
मनसिज के जाले पड़े, भौंहें मीनकेतु की
बन के शरासन चली हैं विश्व जीतने!

अगम अगाध कामना के उर्मिमाली को
पार कवि कैसे करे? शक्ति कहाँ पाए जो
स्वप्न-सिद्धि जग की समेटे काव्य-बंध में?
स्वप्नसिद्धि मोह में पड़ा जो कवि-कर्म के
अगम अकूल पारावार में विवश हो
चाहता है सोम की तरी को चढ़ जिस पै
पार कर जाए। हंस-वाहिनी की वीणा के
तार क्या जगेंगे नहीं सप्तस्वरवाही वे?
स्वर्ग की विभूति धरा भोगती है जिनसे,

सफल सदा है मर जीवन भुवन में
जिनके प्रसाद से, प्रशस्त कविकुल का
पथ जिनसे है रहा, वाल्मीकि, तुलसी,
कालिदास, माघ, और भारवि की आँखों को
ज्योति जिनसे थी मिली, भव के विभव जो।
संशय अधीर मन उन पद चिन्हों में
पीछे छोड़ जिनको चले हैं पूर्व जन ये
भुक्ति और मुक्ति क्या न पाएगा कि भय हो!
साधन वही हैं और सिद्धि भी वही तो हैं
कवि कर्म लोक के।

मनोहर शिविर है;
शिखर खड़ा हो गन्धमादन अचल का
हिमधौत जैसे या कि नीरनिधि में खड़ा
ऊँचा हिमखंड हो उठाए शीश गर्व से,
बोध में विभूति के। सुगन्धि सिक्त होता है
छूकर समीर जिसे वायु वाहकों से जो
निकल रहा है, झालरें हैं लगीं मोती की
जिनमें, अटकती है दृष्टि और पलकें
निर्निमेष होती हैं विलोक मोदमग्न हो।
करतीं प्रवेश जिनसे हैं अहा? शशि की
किरणें, परन्तु यथा तारे व्योमतल के

जल। रहे हेम दीवटों में जो प्रदीप हैं,
सह नहीं पाते यह बाधा अधिकार की
हिलते कभी हैं और आगे कभी बढ़ते,
ज्योति दीप्त और कभी होते हैं विरोध में।
वातायन और द्वारपट में लगी हैं जो
माला सुमनों की, यथा मालती की बल्लरी
पुष्पहार ऊपर उठाए मन्द वायु का
आवाहन करती हो स्पर्श सुख पाने को।
सो रहीं चतुर्दिक दिशाएँ, धरा व्योम भी
सो रहे हैं मायामयी निद्रा आप सोयी है
मायाविनी, माया पट खोल भव लोक में।
सोरहा शिविर में सुयोधन अनुज है,
दूध फेन जैसी मंजु शय्या कलधौत की
किम्वा राजहंस के खुले हों पंख व्योम में,
बीच में शिविर के बिछी जो, सुशासन है
सो रहा उसी में, सुखनींद बाधा भव की
भूली सभी, जीवन की तुष्टि बीरवर को
जैसे मिली, आनन से आभा सुख मोद की
निकल रही है, भाल मृगमद राग से
आहा! अनुरंजित सुगन्धि दान देता है।
पुष्ट भुजदंड, पुष्ट वक्ष, जानुतल हैं
पुष्ट, श्वास क्रम में गंभीर धीर गति है।

मानता नहीं है अवरोध परिधान का
रक्तवेग जैसे प्रस्फुरित अंग अंग हैं,
नींद में भी पौरुष परुष गति वाला है।

किस फल हेतु कामना में किस सिद्धि की
कल्पने री! मुझको दिखाती यह दृश्य है
हो रहा द्रवित चित्त एरी देख जिसको?
भारत के निन्दित चरित्र सुशासन से
लेना तुझे क्या है? कवि न्याय! युग बीते ये
गणना विहीन अवहेलना ही लोक की
मिलती रही है जिसे, नरपशु व्यास ने
जिसको बनाया, अन्धकूप कवि पथ का
बनता रहा जो सदा, कैसे कवि न्याय का
होगा अधिकारी वह? हाय! कहती है क्या
पारस के छूने से सुवर्ण होता लोहा है,
और रवि किरणें कहाँ हैं नहीं पड़ती
करतीं अपावन को पावन सदा जो हैं?
रति और विरति नहीं है कवि कर्म में
निर्विकार मानव कहाँ है जिसे पाने को
सुलभ सहज अनुकम्पा कवि छोड़ दे।
अशुभ नहीं है जहाँ होगा वहाँ शुभ क्या?
अपयश नहीं हो यदि यश कौन खोजेगा?

जीवन की कामना टिकेगी भव लोक में
जब लौं टिकी है मृत्यु, भावी गति में पड़ी
यश और अपयश का भाजन मनुज है।
और कवि कामना बँधी जो काव्य-बंध में
कैसे मुक्त होगी? गिरि दुर्गम, अरण्य हो,
पथ में पड़ी हो मरुभूमि भय दायिनी;
फिर भी पथिक को तो पार करना ही है
अन्यथा न पूरा पथ होगा कभी उसका;
काव्य सिन्धु पार करना है जिस कवि को
लेना उसे होगा रस अमृत गरल का,
लेने उसे होंगे रस रुचि के अरुचि के।
मृत्युजयी होने के लिए जो भवलोक में
लोक विष पीते विषपायी कवि जन हैं,
मृत्युंजय शंकर बने ज्यों कालकूट से
मृत्युंजय होते, शिव साधना से जिनकी
लोक लाभ पाता भावभूमि अमरत्वकी।
गुण और दोष के समन्वय में नर की
सृष्टि चलती है रही।

इन्दीवर आँखें ये
नींद में मुँदी हैं, या कि चन्द्रप्रभा धारी जो
कंठ में पड़ा है रत्नहार, विष्णुनाभि से

निकले मृणाल दंड सा जो, रवि रश्मि सा,
क़िम्बा उस बासकी के कंचुक सा, श्रम से
सिन्धु के मथन काल छूटा जो शरीर से,
या कि जब पितृगृह सागर को छोड़ के
देवी इन्दिरा थीं चलीं पति अनुराग में,
आनन्दाश्रु उनके चले जो बने रत्न थे,
निर्मित उन्हीं से रत्नहार यह, किरणें
फूट कर आनन पर फैलीं रश्मिजाल को
सह नहीं पाते नेत्र बन्द वे इसी से हैं।
आधे खुले ओठ दशनावलि की रेखा यों
देख पड़ती है पद्म में हो पड़ी चपला।
बंकिम भृकुटि, शुकतुंड जैसी नासिका,
चलती सुधा की उर्मि कम्पित अधर से
किम्बा लसी लीक है हँसी की मोद दायिनी।
निद्रा की विभूति, मर निर्विकार निद्रा में
ऐसे पड़ा, शान्त रस में हो लीन चन्द्रमा,
दिव्य चन्द्रलोक के महोदया सदन में
सो रहा हो जैसे चन्द्रकान्त पर्यंक में।
सो रहा हो आए पतिप्राणा यथा रोहिणी
पति प्रेम डोर में बँधी सी, अहा ! वासन्ती
वासन्ती समीरण में सिहर रही हो जो
विकसित कमोदिनी सी, पति अनुरागिनी

आयी जो सुशासन की प्रेयसी शिविर में
मंजु कवि कल्पना सी, वाणी की विभूति सी,
अंग अंग जैसे पद्मराग करिदन्त से
विधि ने बनाए; भाग्यभूरि सुशासन की
आयी अहा! शिविर समीप द्वारपट का
मणिमय तोरण हिला जो यथा कमला
रत्नाकर रत्नकिरणों में लीन मुख की
छवि दिखलाए क्षीरनिधि से निकल के।
किम्बा देवसरि में खिला हो देवलोक का
पुंडरीक लाभ और लोभ नर योनि क्या
देवयोनि का भी बने, ऊषा देह धारिणी
आयी यथा प्राणाधार रवि के जगाने को।
शील और विनय बिखेरती शिविर में
आगे बढ़ी शय्या के समीप रुकी कामिनी,
देखने लगी जो, निर्निमेष देखती है ज्यों
पद्मिनी अरुण को, समुद्रबेला शशि को,
अथवा मयूरी मेघमाला को गगन में।
उलझ गए हों नेत्र प्रियतम प्रेम के
पंक में, विवश सी रुकी जो रही रूपसी
राजहंसिनी हो रुकी जैसे मानसर में
आनत शिरोधरा लगाए हिमखंड से।
चंचल तरंगें राग सिन्धु में उठी हों ज्यों

तामरस अधर विकम्पित बने जो वे
काँपी कवि वाणी! पद्मराग रंगवाले वे
भुवन विमोहक कपोल मणिसीपी में
झलक रहा हो मदिरा का रस प्राण को
स्निग्ध करता सा अहा! तिल के कुसुम सी
मलयानिल वाही नासिका जो अंगुरीय हो,
भारती की वीणा बजती है धन्य जिससे।
कुंचित अलक राजि चन्द्रानन घेर के
नीचे को चली जो वासुकी का वंश पीता हो
अमृत सुधाकर के अंक से लिपट के।

जलनिधि समान रूपनिधि जो अगम है
पार कर लेगी कवि वाणी किस भाँति से?
भावना अधीन कविवाणी, अनुभव में
होती लय सर्वदा है विज्ञ जन जानते।
शेष कवि मन का अशेष विज्ञ जन के
अनुभव में होगा, अनुभूति निधि वाणी में
आती नहीं पूरी कभी। भ्रू विलास रस से
परिचित अकेला मन, आँखें जो कि देखतीं
परिचित न होतीं कभी। चन्द्रमुखी चन्द्र के
रच रही जैसे प्रतिबिम्ब प्रतिपल है।
कुवलय की वृष्टि यथा हो रही शिविर में

रूपसी के नेत्र अनायास घूम जाते जो।
फूली हुई मालती लता सी अनुरागिनी
पतिरति अनिल अधीरा झुकी नीचे को
प्रियतम पदों में, पलकों से लगी चूमने
पति चरणों को, पुंडरीक कर जिसके
प्रेमिक पदों में रमे, आहा! कर रति के
रमते हैं जैसे मीनकेतु की विपंची में।
आधी मुँदी आँखें मंजु पंख लालसा के वे
सिमट गए हों, झुकीं पलकें कपोल जो
रूपसी के प्रेमिक के पदतल से लगे।
मोद की लहर चली स्पर्श सुख पाने से,
सींची सुधा रस में गयी हो हेम वल्लरी।
रोम रोम जागे, अनुराग रंग छाया जो
देह किरणों में लगा रँगने शिविर को,
रंजित प्रदीप हुये स्वर्ण दीवटों के वे
और अनुरंजित वे अम्बुज चरण थे
प्रेमिक के। प्रेयसी कपोल राग रस से
अभिषेक जिनका हुआ हो भाग्यशाली जो।
त्रिभुवन में लाभ और होता क्या कि जिसकी
कामना करेगा नर मानस ?

पुलक में,

हौती सी अनस्थिर हिली जो, अलकावली

हिल पड़ी जैसे कामना की उर्मि डोली हो।
भौंहें हिलीं, अधर हिले वे हिलीं पलकें,
हर्ष का पवन चला, माला यथा मन की
टूटी और लोचनों से मोती झरे जिसके।
किम्वा देवसरि के किनारे मंजु सीपी दो
उगल रहे हों यथा मोती भावलोक के
कवि कामना के भाव निधि से अलभ जो।
धोती रही प्रेमिक चरण अनुराग में
आनन्दाश्रु से जो सती, प्रेमिक नयन से
पलकों का बन्धन खुला जो मुग्धमन हो
पीने लगा प्रेयसी के रूपसुधा रस को
अविचल नयन से कि धीर क्रम श्वास के
बन्धन में बाँधे वीरवर ने शरीर को,
कामिनी के। भाल से भृकुटि से कपोल से
स्वेद चला। शिशिर सरोरुह नयन वे
प्रेमिक के भीगे अनायास गद्गद् हो
चन्द्र किरणों से चन्द्रकान्त ज्यों पिघलता।
अधर प्रवाल हिले वाणी हिली कंठ में।

"अनुचर को धन्य करने के लिए नभ से
जीवन की मूर्ति यथा चन्द्रकला आई हो
अमर बनाने मुझे देव लालसा के जो

मुक्ताहार दास के चरण में चढ़ाती हो
देख इसे ईर्षा क्या न होगी देवकुल को ?
मानव के भाग्य से कुपित देव होते हैं,
और इसी हेतु से विरत भाग्यफल से
रहते सुधीजन हैं कर्मफल मात्र से
तुष्टि मिलती है जिन्हें। प्राणेश्वरि ! तुम भी
कहती यही हो रही और इसी भय से
कृपण रही हो प्रिये ! प्रेमदान देने में।
नेत्र और प्राण जिस लाभ को ललचते
दे रही वही हो चरणों को तुम भूल से।
चन्द्रमौलि मौलि का मयंक कहीं नन्दी के
शृंग पर आसन जमाए भला सोचो तो
कैसी हँसी होगी" ?

हँसा वीर बाहुबन्ध में
बाँध प्रिया कटि को, उठाये श्वेत गज ज्यों
मन्दाकिनी नीर में वनज राजि, वीर ने
वैसे ही उठाया सुन्दरी को रतिहार सा,
अंक में समेटता सा, प्राण में छिपाने का
करता उपक्रम हो जैसे लगा फेरने
शीश पर पद्मपाणि चेतना विगत सी
कामिनी के। मनसिज के अंक में पड़ी हो ज्यों
भुवन विमोहिनी अनंग सखी किम्बा हो

मृगपति के अंक में शशांक प्रिया रोहिणी।
प्रेमिक के कंठ को अजस्र अश्रुजल से
सींचती रही जो सती निश्चल शरीर हो
खाया हो जैसे मर्म बोला बली शंका में।

"रोती ही रहोगी प्रिये! मन में टिका है क्या
बोरना है देवि! मुझे आज अश्रुधारा में?
अनुचर से दोष क्या बना है दंड जिसका
दे रही हो दारुण? कहूँ क्या नहीं जानता।
चाहता है प्राण चले छोड़ के शरीर को
भीम गदाघात से कि अर्जुन के शर से
छोड़ा नहीं, जिसने शरीर छोड़ जाएगा
प्राणेश्वरि! बोलो भीख माँगता कृपा की हूँ
कारण कहो तो इस विषम विराग का?
तोष तुम्हें देने के लिए हे देवि! नभ के
चाहूँगा कि तारे तोड़ लूँ मैं और क्या कहूँ?
जीवन की मूरि तुम मेरी, तुम्हें छोड़ के
अन्य कामना ने नहीं पाया ठौर मन में।
बीतने लगी है अब यामिनी प्रतीची के
अंचल में ज्योति मन्द तारापति हो रहे
रोग से ग्रसित जैसे पांडुर मुखश्री है
प्रेयसि! निशाकर की, पीली पड़ीं किरणें।

सूचित करती हैं जो कि प्राची के दिगन्त से
हेमरथ ऊषा का चलेगा अंशुमाली की
चिर अनुरागिनी जगाएगी जगत को,
प्राणमयी प्राण सी लुटाती भवलोक में।
रवि के विजय की पताका व्योमतल में
वीरकुल वैभव सी ऊषा अब आएगी
और वीर लोक के लगेंगे कर्मसिद्धि में।
ऊषा तुम मेरी प्रिये! कर्म की पताका हो
शोकतप्त ऐसी ही बनी जो रही, तब तो
मुझको मनोबल मिलेगा कहाँ जिससे
कर्मसिद्धि मुझको मिलेगी रणभूमि में?
वीरकुल गौरव किरीट कर्ण सेनानी
खिन्न मन देख मुझे रण में कहेंगे क्या,
और क्या कहेंगे शस्त्रधारी रणभूमि के
हतप्रभ सा देख मुझे, पूज्यपाद भाई के
चरणों में साहस की निधि क्या लुटाऊँगा?
प्राणमयी! प्राणबल तुमसे न पाऊँ जो
निश्चय ही जानो वीरजन्म फलहीन है
मेरा प्रिये! कैसे भीमसेन से लड़ूँगा मैं
कौरवों के शत्रु उस दारुण कृतान्त से?
शोकमग्न रूपसी रहोगी बसी मन में,
मोदमयी मूर्ति जो कि मन और प्राण को

मोदमग्न करती रही है सुधारस से
सींचती रही है इस जीवन के तरु को,
मेरे भाग्यदोष से बनी जो हा! विषादिनी
जान लिया मैंने दुर्दैव यही चाहता
असमय में सूखे यह विटप।"

अनल की
ज्वाला में घिरी सी भय कातरा मृगी हो ज्यों
देख कर पारधी के खींचे कालधनु को,
बोली सती वाणी यथा सूखे कंठतल में
अटक रही हो :—

"नाथ! आज इस युद्ध में
जाना तुमको है नहीं दासी यही चाहती।
कामना यही है चरणों में इसी हेतु से
आई यह किंकरी है और अश्रुजल से
धोती रही प्रियतम के अम्बुज चरण है।
जिन चरणों की रति नारी की सुगति है
अबला के बल जो बने हैं भवभूमि में,
मूरि जो मनोरथ के, अबला हृदय से
लगते जभी वे भाग्यद्वार खुल जाते हैं
कामिनी के, मिटते अभाव सभी मन के,

पाकर पुनीत पति पद कल्पतरु को।
जानती हूँ नाथ! क्या कहेंगे किस भाँति से
तोष मुझे देंगे वीर व्रत के व्रती जो हैं।
किन्तु हाय! कृत्या की जटा सी जटा कृष्णा की
काल नागिनी सी डसती है इस मन में।
पाऊँ जो निदेश अभी जाऊँ प्राणपति के
अग्रज समीप याचना मैं करूँ उनसे,
पूरी वे करेंगे कामना जो इस मन की
पुत्रसम प्रेम जिनका है मिला नाथ को
और सदा कन्या के समान इस दासी को
मानते रहे जो। ताप निकले शशांक से
या कि अग्नि शीतल हो हिमकर किरण सी,
सिन्धु सूख जाये, रवि तम में विलीन हो
किन्तु कृपासिन्धु कुरुश्रेष्ठ स्वप्न में भी क्या
अनुज बधू की कामना से मुख मोड़ेंगे?
देंगे वे निदेश यदि सेनापति कर्ण के
चरणों में जाकर मनोरथ सुनाऊँगी,
विश्वजयी वीरकुल गौरव किरीट वे
कौरवों के पोत इस संगर समुद्र में।
कालपृष्ठधारी तारकारि सम लोक के
जीतने की शक्ति, जिन हाथों की सुनी गई
और जिन हाथों के अधोतल में देव भी

याचना के हेतु कर खोल खड़े होते हैं।
पूरी हुई देवकामना भी जिस दानी से
तो फिर अकिंचन मनुज का अभाव क्या
पूरा जो न होवे दान वीर की विभूति से ?
धवल बनी है यह भरत वसुन्धरा
जिसके सुयश से मनीषी प्राणदान से
होगा नहीं विरत कहीं भी यदि याचना
उसकी भी याचक करे तो।"

"किन्तु प्रेयसी !
करती अनुग्रह रही हो अब तक जो
कैसे उसे ग्रहण करोगी तुम आपही ?"
कहकर हँसा जो वीर, कामिनी को करके
झूले में झुलाता हुआ।

"पौरुष से हीन क्या
आज यह दास है कि कामना तुम्हारी जो
पूरी पर पुरुष करेगा भला सोचो तो ?"

आई हँसी। मन की तरंगें चलीं जिनको
रोकने में अक्षम सा, मलय मरुत सा,
पुलक विभोर भाल, भृकुटि, कपोल को
प्रेयसी के पंकज अधर, कम्बुकंठ को

मोह में विकल चूमने जो लगा, रूपसी
पुंडरीक पाणि में छिपाती चन्द्रमुख को।
करती निवारण सी बोली :—

"रात बीती है
प्राणनाथ! ब्रह्मबेला कैसे तुम हो रहे?
जब से चला है यह युद्ध तुम दासी से
आँखें भी चुराते रहे, क्षीरनिधि में कहो
लहरें प्रलय की चली क्यों?"

करि घूम के
पथ धरता है यथा अंकुश की चोट से
संयत बना जो वीर, अधर कपोल की
लाली मिटी, रतनार आँखें श्वेत हो गईं,
धीमी पड़ी साँस और कम्प तन से मिटा।
अनिल विकम्पित पयोदधि समीर के
रुकने से जैसे धीर होता। मृदु स्वर में
बोला नरसिंह :—

"प्रिये! देखती नहीं हो क्या
चलता समीर जब काँपता प्रदीप है?
रोती हुई रूपसी पड़ी हो जब अंक में,
आँसुओं से सींचे प्रियकंठ कामना में जो,
पति अनुरागिनी, अधीर पति मोह के

हेतु से बनी हो भयकातरा कुरंगिनी
काँपती हो माधवी लता सी जो बसन्त में,
संयम टिकेगा वहाँ कैसे हीन नर का?
वज्र से हृदय तो बनाया नहीं बिधि ने?
और फिर दारुण समर में नियति की
लीला क्या रहेगी कौन जाने? नर मन की
तुष्टि जो चरम सदा संयम नियम के
बन्धन में रहती नहीं है प्रिये! चिन्ता क्या?
मनुज विकारी यदि होता नहीं तब तो
माया हार जाती प्रिये! आप मायापति की।
फिर भी कहूँगा यदि स्वप्न में भी तुमको
छोड़ कर कामना रमी हो अन्य नारी की
मेरे इस मन में, तो कामुक की गति जो
होती, मुझको भी मिले लोक परलोक में।
प्राणेश्वरि! रोको यह चिन्ता और मोद की
मूर्ति तुम जैसी सदा अब लौं बनी रहीं
फिर भी दिखाओ वही मूर्ति मनभावनी।
सौरभ बिखेरता है पद्म यथा ऊषा को
देख कर, देख तुम्हें मेरा मन मोदता
सौरभ बिखेरे और निर्भय हृदय से
रण में प्रवेश करूँ, जैसे रवि व्योम में
करता प्रवेश है अबाध गति :—"

वासन्ती

याचना से आग्रह से बोली "पर आज तो
जाने नहीं दूँगी प्राणनाथ! स्वप्न देखा है
दासी ने अभी जो हाय! याद कर उसको
कंठगत प्राण हो रहे हैं प्राणधन हे!
कैसे कहूँ कहना ही चाहूँ हाय! शब्द के
साथ ही क्या कंठ छोड़ प्राण भी न जायेंगे!
किन्तु जो विधाता कहीं वाम मुझसे बने
और प्राण अधम न छोड़ें कंठतल को
हृदय बनेगा किस भाँति पवि? जिससे
तुमको सुनाए हाय! स्वप्न जो कि देखा है
और जिस भय में विवेक भूल आई है
प्रियतम पदों में ब्रह्मवेला में अभागिनी।"

बाँध पतिपद भुजबन्ध में ज्यों जल में
बाँधती मृणालिनी मराल युग्मपद है,
शीश टेक चरणों में जैसे मर्मभेदिनी
वेदना में व्याकुल सी, वाणी रोक कंठ में
काँपने लगी जो सती दावानल में पड़ी
काँपती रसाल तले जैसे मंजु लतिका।

भाल पर रेखा पड़ी टेढ़ी पड़ी भृकुटी
पलकें तनीं जो हिले अधर अधीर हो,

बोला वीर, "प्राणेश्वरि ! स्वप्न भय में पड़ी
कायर बनाना यदि चाहो फिर तव तो
बेणी बाँध लेगी वह कृत्या जो द्रुपद की।
किन्तु क्या रहेगा प्रिये ! शेष जिस बल से
पूजित रहोगी तुम, गौरव तुम्हारा जो
भू पर गिरेगा । वीरबालाएँ कहेंगी क्या
देख तुम्हें, कैसे तुम रवि को निहारोगी !
वीरव्रत तोड़ कर मेरा सुख पाने की
कामना तुम्हारी तुम्हें लोक में उपेक्षा का
भाजन बनाएगी। सुमुखि ! वीरबाला हो
वीरधर्म जानती हो।"

बोली सती "तब तो
स्वप्न बस सुन लो हे प्राणेश्वर! और जो
चाहो करो चिरअनुरागिनी चरण की
दासी यह लोक परलोक में बनी रहे।
वीरधर्म भग्न करना मैं नहीं चाहती,
वीर वनिता का यश मेरा रहे लोक में,
किन्तु जानती मैं नहीं अबला को प्राण हे !
नर वनिता हो रही या हो रही देव की
द्रवित बनी जो नहीं हाय! कहूँ कैसे मैं
पति के अमंगल से स्वप्नदृश्य आँखों में
प्राण और मन में बसा है हाय ! प्राण के

संग निकलेगा।"

यथा रुक गई साँस भी
और द्वन्द्व जीवन से जैसे मृत्यु का चला।
शब्द के प्रवाह में प्रवाह बहा प्राण का।
धीर बनती सी सती बोली यथा यन्त्र से
ध्वनि निकली हो :—

"रणभूमि में कृतान्त सा
देखा भीमसेन को, गदा को बार बार जो
कालदंड जैसे महाकाल का चलाता हो,
अग्नि की लपट चलती हो क्रुद्ध आँखों से,
खंड खंड भूमि हो रही हो पद तल की,
अन्तक चला ज्यों जीवकुल के निधन को
नृत्य करता सा हाय! और ललकारता।
देखा कितना हा! और हाय! कितना सुना
अशनि निपात ज्यों अजस्र गिरि शृंग में
हो रहा हो वैसे ही गदा का घात होता था
हाय! रे अभागिनी के प्रियतम शरीर में।
और तब देखा धराशायी वक्ष चीर के
रक्त से भरी थी अंजली जो कालरिपु की,
भागा जब रक्त लिए, प्राण लिए जाता हो
और जब द्रौपदी के शीश पर अंजली

खोलकर अधम खड़ा जो हुआ कृत्या सी
हँसने लगी जो।"

गतचेत गिरी रूप सी
पति चरणों में, करिशुंड से निकल के
नीर में पड़ी हो पद्मिनी ज्यों या कि चित्र में
अंकित हो रूप कल्पना जो चित्रकार की
लोक में अलभ्य, भाग्य रेखा सुशासन की
जैसे गिरी, साँस रुकी, स्फटिक शिला की ज्यों
मूर्ति हो बनायी गई अर्चना के हेतु से।
निश्चल शरीर गतिहीन रूपसी का जो
प्रेमिक पदों में पड़ा शशि हो निशान्त का,
किम्बा स्वर्ण वल्लरी गिरी हो भूमि तल में।
स्तब्ध हुआ वीर अनायास वज्रपात हो
विश्व डूबता हो तमराशि में, गगन के
तारे और तारापति टूट महासिन्धु के
गर्भ में गिरे हों। हतबुद्धि जड़वत् सा
देखता रहा जो चल पलकें अचल थीं
भूलीं जो निमेष, नेत्र जैसे मणिखंड थे
हिम की शिला में जड़े छूकर तुहिन को
फूले पद्म सूखे यथा दोनों पल भर में।
किन्तु दूसरे ही क्षण जैसे चेत आया हो
साँस में समायी गति ढीली पड़ी पलकें,

आँखों से अजस्र चले आँसू, कर आपही
प्रेयसी के शीश, स्कन्ध, और वक्ष तल में
लोटने लगे जो, मन जिनसे उतर के
प्रेयसी की देह में समाया अनुरागी का।
हाथों में उठाया उसे और भयभीत सा
अंक से लगा के यथा माला पारिजात की
धारण करने के लिए धीरे से उठाता हो,
उत्सुक हो देखने लगा जो। यथा कल्याणी
देवी वहाँ आईं आप धीर गज गति से
भानुमती आई कौरवेश्वरी, ज्यों गंगा हों
ग्रीष्म की निदाघ हारिणी सी, कृश तनु था
सजल नयन युग्म वारिज शिशिर के
पलकें झुकी थीं और भाल पर चिन्ता की
रेखा सी बनी थी, शान्त चन्द्रानन देख के
भोर के निशाकर का जैसे भ्रम होता था,
आनन की ज्योति पर छाया थी विषाद की।
देवासुर रण में अकेली शची सुन्दरी
देव पराभव से अधीरा हो जयन्त को
खोजती सी आई।

पिकी कंठ से चला हो ज्यों
ग्रीष्म रजनी में करुणा का स्वर व्योम को

करता विकम्पित सा, बोली मन्द स्वर में।

"जाना नहीं देवर! तुम्हें है अब रण में
जाकर निवेदन करूँगी कुरुराज से,
सुन लिया मैंने जब स्वप्न निज कानों से
वासन्ती सखी का, अभी तुमने सुना है जो।
जानते हो पुत्री सम प्राण में बसी है जो
मेरे और पुत्र का निधन जिस मुख को
देख कर भूलने का यत्न अब मेरा है,
उसका अमंगल भी दैव क्या दिखाएगा?
राज्य और धन के लिए ही क्या जगत में
जन्म हमने था लिया जो कि अभी रण में
हम हैं निरत जब लक्ष्मण चला गया,
और हम डूबे शोकसिन्धु के अतल में?
युद्ध ही अकेला भला कर्म क्या मनुज का;
इष्टदेव और पितृदेव परलोक के
किसके सहारे से टिकेंगे पुण्यधाम में?
उनको तिलोदक भी देगा कौन वत्स! हे
पुण्यव्रती जनक तुम्हारे चक्षुहीन जो
और सती जननी जो नेत्रहीन आप ही
स्वेच्छा से बनी है सती धर्म की विभूति से
कर्म अभी शेष क्या नहीं हैं पिता माता के
प्रति भी तुम्हारे, जो कि एक मात्र रण को

मानते हो कर्म तुम ? व्यर्थ उपदेश मैं
देना नहीं चाहती न आई यहाँ सुनने
वीरधर्म देवर से पुत्र प्रेम जिनमें
जाकर टिका है पुत्रहीना इस नारी का।
बाँधकर रखना तुम्हें है बाहुपाश में
निश्चय है तुम भी न तोड़ उसे जाओगे।
लड़ना ही चाहें यदि अग्रज तुम्हारे वे
और वे लड़ेंगे, उन्हें चन्दन, कपूर से
मृगमद से, अक्षत से फूल और जल से
पूजकर आपही मैं भेजूँगी समर में।
विजय मिले जो राज्यभार तब तुम को
देकर चलेंगे हम वन में, परन्तु जो
दैव विपरीत बना जैसे रहा अब लौं
तब भी अकेले तुम्हें वत्स ! मैं बचाऊँगी
डूबने न दूँगी वंश आर्य धृतराष्ट्र का।
छोड़ यह राज्य, धन, धरती नगेन्द्र की
पुण्यमयी भूमि में बसेंगे बनवासी हो।
पर्वतदरी को राज सद्म सम मानके
परिजन बनाएँगे बनेचर किरातों को
शम्बरों को यक्ष और विद्याधर कुल भी
सुलभ रहेंगे हमें कुल के प्रसाद से।
होते पर प्रिय हैं विपत्ति मिट जाती है

फिरते हैं भाग्य के भी दिन भव लोक में।"

नाद से विवश यथा होता फणिधर है
मन्त्रमुग्ध एक टक वीर देखता रहा
भानुमती चरणों में, आगे बढ़ी सुन्दरी
और पतिप्राणा उस बासन्ती सती को जो
मूर्छित पड़ी थी पति अंक में पकड़ के
बैठी पर्यंक में, शची ने यथा रति को
अंक में लिया हो लगी भाल और शीश में
हाथ फेरने जो फिर बोली अनुराग में।

"जागो अब चेत धरो सजनी! शपथ से
कहती हूँ जाने नहीं दूँगी इन्हें रण में।
देखती रही मैं तुम सारी रात जाग के
चन्द्र को निहारती रही हो अभी मैंने ही
तुमको लिटाया पुष्प शय्या में पकड़ के,
और जब नींद तुम्हें आयी, गई सोच के
अब तो सबेरे तुम्हें आकर जगाऊँगी,
फिर भी न जाने चित्त कैसे रहा शंका में
और फिर लौटी जब देखा भूमितल में
आभूषण टूटे। यहाँ आई मैं अधीर हो।
देखकर मूर्छित तुम्हें हे मंजुभाषिणी

वज्रसार हृदय न टूटा, पुत्रशोक में
टूटता वही है अब, जागो कभी खेद का
अवसर भी तुमको मिलेगा नहीं स्वप्न में।
मौन हुई राज महिषी जो लगी देखने
अपलक शिविर में, दया की दिव्य किरणें
चारों ओर फैलीं; उन आँखों से निकल के।
मूर्तिमान जैसे अनुराग आप होता था,
शील और याचना की किम्वा चली लहरी।
प्रेमिक को देखा और देख प्रेमिका को जो
बंद हुए नेत्र, यथा दम्पति को आँखों में
बंद कर निर्भय बनी ज्यों, महामाया की
आँखों से समायी गति अगति जगत की।

शीश झुका पांडवों के अग्रज शिविर में
बैठे हैं विषाद और शंकामग्न, पास ही
बैठा है किरीटी यथा हर्ष शोक दोनों से
होकर विमुक्त, रोषमुद्रा भीमसेन के
आनन में फैली, कृष्ण रोकते हँसी को हैं
दाँतों तले ओठ को दबा के, याज्ञसेनी की
साँस में बसी है गति जैसे फणिधर की,
छाती पर फैली अलकावली हिलाती जो
बार बार अंशुक हिला रही हैं कंठ से।

दोनों ओर ग्रीवा के समीप खुली वेणी को हाथों में लपेट, लिपटें हों युग्मपद्म से उभय फणीश, तान भौंहें कहने लगी।

"माधव तुम्हारी हँसी विष सी शरीर से प्राण हर लेना चाहती है भय मुझको दे रहे हो व्यर्थ तुम। विधवा बनी थी मैं द्यूत की सभा में जहाँ पाँच पति मेरे ये अचल बने थे शिलाखंड से, पकड़ के केश जब पापी मुझे खींचे लिए आता था। वेणी उस दिन जो खुली थी एक वस्त्रा की अब तक बँधी है नहीं, विधवा की वेणी में और इस वेणी में विभेद कहाँ पाते हो? जानती जो दुर्जय धनुर्धर जगत में कालपृष्ठ धारी है अकेला सुत राधा का तब तो स्वयंवर में बरती उसी को मैं। जिसका निवारण किया था हीन जन्म से मैंने और रोका जिसे लक्ष्यभेद से भी था। मर्माहत वीर अपमान विष पीने से ऐसा लगा कालकूट पीकर महेश हों। देखने लगी हूँ अब भूल वह मेरी थी। धरती को धारण किया था ज्यों बराह ने

दन्त के वलय पर, उठाता वीर वैसे ही
रमणी का भार। कामना भी यही नारी की
सर्वदा रही है वीर रमणी बनी रहे।
विधवा बनी थी तभी, विधवा बनी हूँ मैं
वेणी बँधती है नहीं और जिसे पाने को
छोड़ा वसुसेन को स्वयम्बर सभा में था,
जाना उसे निश्चय ही होगा आज रण में
और दुर्दम्य उस आधिरथ तनय को
मारना ही होगा बली जिससे विपक्षी हैं।
कौरवों की कीर्ति की पताका बना लोक में
घूमता रहा जो, उसे काट कर भूमि में
डालना ही होगा; देव दैत्य रण विजयी
अर्जुन का साहस जो छूटे तब अबला
जाकर लड़ूँगी मैं अकेले कालरिपु से।
बीती यह सारी रात चिन्ता और तर्क में,
चाहती हूँ उत्तर मैं, बोलें धर्मराज या
भीमसेन बोलें, लगी जिनकी समाधि सी
जिनके बल से मैं सदा गर्वित बनी रही
बोलें वही पार्थ, मुझे जाना है समर में ?
तब तो चलूँ मैं और साज रण के सजूँ।
बीती अब रजनी दिनेश दूती ऊषा है
अंचल से पूर्व के चली जो रागरंग में

रँगती दिगंत को, ज्यों कीर्ति की पताका हो
ऊँची उठी व्योम में यशस्वी वसुसेन की।
देख कर मुझको समर में कहेगा क्या
वीरकुल केतु? जिसे रमणी बनाने की
कामना में लक्ष्यभेद हेतु से उठा था जो"।

बाँधने लगी जो कंठ दोनों ओर वेणी से
घेरकर "हाय। हाय!" कहता अधीर हो
आगे बढ़ा अर्जुन प्रिया के पाणि पद्मों को
हाथों में समेट बोला,—

"वासुदेव! मुझको
रोका तुमने था यही दृश्य क्या दिखाने को,
और क्या सुनाने को रहा हूँ जो कि सुनता?
जो कुछ कहा है अभी कृष्णा ने विराग में,
सूतसुत विभव बखानती रही है जो,
शब्द ये रहे हैं या कि शूल? हास्यरेखा से
रंजित फिर भी हैं अभी अधर तुम्हारे ये।
प्राणेश्वरि! जानती नहीं है यहाँ आते ही
मौन रहने का मन्त्र तुमने दिया था जो
कान से लगा के ओठ जैसे गुरुमन्त्र हो,
और उसी निष्ठा में बना मैं मौन बैठा था

जैसे हो समाधि लगी। सत्य ही प्रिया के ये
शब्द हैं अडोल, फिर भी तो तुम्हें अन्त में
दारुण विषाद से बचाना प्रेयसी को था।
अनुचर रहा जो बना अब तक तुम्हारा मैं
और यथा दास सदा शीश पर स्वामी का
लेता है निदेश, उससे भी बड़ी निष्ठा से
मानता रहा मैं मित्र! जैसे वेदवाणी हो
मेरे लिए आज्ञा जो तुम्हारी। पर आज तो
टूटा वह धैर्य और टूटी वह निष्ठा है।
विचलित बना है महासिन्धु मर्यादा की
सीमा तोड़ बोरेगा धरित्री को अतल में।
द्रौपदी ने वरण किया था मुझे भूल से,
करके निवारण जो अधिरथ तनय का,
और जिस हेतु से न वीर रमणी बनी,
करना मुझे है परिहार उस भूल का।
आज इस रण में बरेंगी देव बालाएँ
मुझको कहीं जो वसुसेन विजयी बना।
किन्तु यदि गर्व नहीं सहज प्रकृति से
कहता हूँ विमुख बना था जिन शस्त्रों से
देवरथी चित्ररथ और जिन शस्त्रों के
बल से अड़ा था उस मायावी किरात के
सामने समर में भी, भीष्म और द्रोण का

पारावार पार किया मैंने जिन शस्त्रों से,
खंड खंड उनसे न होगा क्या समर में
अर्द्धरथी राधासुत, और नव लोक की
वीर वनिताएँ द्रौपदी के भाग्यफल से
विनत वदन क्या न होंगी ?"

भय शंका में
काँपती जो आई आर्तवाणी द्वारपाल की,
वैनतेय कर में पड़ा ज्यों नाग शिशु हो
क्रन्दन मचाता, आर्तनाद प्रतिहार का
गूँजा जो, शिविर में लहर चली शंका की।
आगत विपत्ति में अधीर वीर दोनों ही
पलमात्र में ही उठे आगे बढ़े रोष में।
नाची रणमुद्रा, चढ़ीं भौंहें, तनीं पलकें
रक्तवर्ण भाल से हुताशन लपट सी,
चल पड़ी। कालदंड सी जो भीमसेन की
दारुण गदा थी हिली ऊपर, किरीटी का
गांडीव डोला यथा वासुकी की कुंडली
आधी खुली, त्योंही वीरतनया हिडिम्बा का
मरकत शिखर सा हटा के द्वारपट को
और द्वारपाल को गिरा के भूमितल में,
जैसे गिरे शाखा छूट कुंजर के कर से

हाथ जोड़ आगे बढ़ा। वीर रस आप ही
वीर वेश धारी दुर्निवार काल शस्त्रों को
लेकर चला हो, भय विस्मय में वीर जो
दोनों बढ़े आगे थे सहम कर पीछे को
ऐसे हटे, जैसे देवराज देव सेनानी
पथ दिखलाएँ मौन अञ्जन दिगेन्द्र को।
अपलक निहारते रहे वे यथा मन्त्र के
वश में पड़े से, बली बोला मृदुस्वर में
शीश से लगा के कर दोनों हाथ जोड़ के
मेघ से चली हो ध्वनि जैसे वारि वर्षा में।

"दैत्यबाला जननी हिडिम्बा का तनय मैं
नाम है घटोत्कच, जनक भीमसेन हैं
पांडुपुत्र मेरे। कभी देखा नहीं जिनको
मैंने इन आँखों से न अग्रज को उनके
जानता हूँ धर्मराज धर्मधीर वे हैं जो,
और वीरकुल के शिरोमणि अजेय जो
मझले चचा हैं पार्थ, माता ने विनोद में
जिनका सुनाया यशोगान बार बार है।
कैसे कहूँ कौन हैं वे? चरणों में जिनके
शीश अब टेक कर मेटूँ साध मन की।
और वे नकुल सहदेव लघुतात हैं

दोनों कहाँ मेरे, कहा माता ने कि प्रेम से
और सदा आदर से मान मुझे देंगे जो?
रूप धरे चरम प्रताप पुण्यबल से
इन सबके हाँ, यदुराज कहाँ कृष्ण हैं?
कौशल से और मनोबल के सहारे जो
पार करते हैं रहे संकट समुद्र से
मेरे पितृकुल को? प्रणाम करता हूँ मैं
चरणों में उनके। प्रणत एक साथ ही
होता यह दास चरणों में धर्मराज के
उनके जो बन्धु यहाँ बैठे हों शिविर में
और जो जो गुरुजन हों सबको प्रणाम है।
मुक्त किया माता ने मुझे है मातृऋण से
और दे निदेश मुझे भेजा है कि जिससे
अनृण बनूँ मैं पितृऋण से समर में
मारूँ वसुसेन को कि वीरगति को वरूँ।"

धरती पर माथा टेक दोनों हाथ जोड़ के
मौन हुआ वीर, ज्यों अगस्त्य ऋषिराज को
देखकर शिखर झुका हो विन्ध्यगिरि का।
कन्धे में पिनाक, पाश जैसे हो वरुण का
दारुण, निषंग कटि देश में, गरुड़ ज्यों
पंखों को समेट पड़ा, वासव के वज्र सी

अग्निगर्भा भीषण गदा थी कंठमूल में
दंड जिसका था दबा, जैसे काल रसना
डोलती हो काल असि पीठ पर वैसे ही
डोलती थी कोष में, परशु, पाश, शूल थे
बाँहों में अटकते से फैले भूमितल में।
अचल बना जो रहा वीर शीश टेक के
भू पर, परन्तु अभी वाणी भीमसुत की
गूँज रही जैसे थी शिविर में, ज्यों चित्र में
अंकित से देखने युधिष्ठिर लगे उसे,
कृष्णा देखती ही रही विस्मय में डूबी सी।
अर्जुन के नेत्र उसे देखकर पल में
घूमते जो अग्रज की ओर, भीमसेन की
आँखों में झलकते थे अश्रुविन्दु पद्म में
झलमल करते हैं यथा सीकर शिशिर के।
बोले वासुदेव हँसी अधर कपोल में
नाच उठी —

"भीमसेन! मोह के समुद्र में
डूबने का अवसर नहीं है मूर्तिवत् हो।
क्यों हो खड़े? आगे बढ़ो देखो महाभाग हे!
दिग्गज तुम्हारा धराभार के उठाने को
आया। कहो अब तक छिपाया कहाँ तुमने

इसको था ? चिन्ता मिटी मेरी, पूर्वकाल का
उदय हुआ हो भाग्य जैसे इस काल में।
धन्य दैत्यनन्दिनी तुम्हारी प्रेयसी हैं ये
जननी बनी हैं जो कि ऐसे वीरसुत की।
अपर खगेन्द्र, या कि तारकारि दूसरा,
किम्बा इन्द्रजीत, इन्द्र विजयी समर में
निर्भय बनाने तुम्हें आया काल रिपु ने।
निश्चय ही कर्ण का निवारण समर में
तनय हिडिम्बा का करेगा, दैत्यनन्दिनी
वीर जननी की कीर्ति फैलेगी दिगन्त में।
सुनते रहे हैं अनुकूल जब दैव हो
संकट टिकेगा कहाँ ? देखा यही आँखों से।
अंग अंग आयस के किम्बा वज्र के बने
देखो इस पुत्र के तुम्हारे। किस लग्न में
तुमको मिली थी कहाँ दैत्यबाला सुन्दरी ?
और किस लग्न में सती के अवधान में
आया यह रत्न ? इस भूतल में जिसकी
समता नहीं है कहीं।"

जैसे स्वप्न से जगा
मोह की भँवर में पड़ा सा, यथा लोहे को
खींच लेता चम्बक है वैसे ही तनय ने

खींचा यथा आकुल जनक को निमेष में।
पलकें गिरीं जो खुलीं देखा भीमसेन ने
बाहों में उठाया बली पुत्र को पुलक में
छाती से लगाके सिर सूँघ, अश्रुजल से
सींचने लगा जो सुत शीश, मोह मन का
बह चला; सींचे गिरिशृंग मद वारि से
जैसे गन्ध कुञ्जर, निमीलित नयन थे।
चू रहे थे मोती युग्म सीपी से निकल के,
किम्वा सरसिज से निकलते थे जल के,
सीकर अजस्र। निधि स्वप्न की भिखारी को
जैसे मिली।

कृष्णा उठी और धरातल को
मोद किरणों में रँगती सी चली पल में।
धर्मराज और यदुरत्न दोनों साथ ही
आसन को छोड़ उठे, तब तक द्रौपदी
पति को अलग करती सी, पद्मपाणि से
शीश और कण्ठ सहलाने लगी, मोह में
होकर द्रवित। घटोत्कच को मिला हो ज्यों
जननी का स्पर्श सुख जिसमें अधीर हो
चरणों में लोटने झुका जो पर द्रौपदी
बाँहों में सँभालती सी बोली—

"वत्स ! तुम को
पाकर बनी मैं आज पुत्रवती। फिर भी
किस अपराध से तुम्हारी उन माता ने
मुझको भुलाया और आप नहीं आईं क्यों" ?

मौन रहा वीर जैसे भावनिधि में पड़ा,
मौन द्रौपदी थी हुई, मौन धर्मराज थे,
अनुज यशस्वी उनके थे वहाँ दोनों ही
वाणीहीन अपलक टिके थे नेत्र मोद में
डूबे यथा। मंद मुसकान अधरों में जो
कृष्णा के बसी थी कामना की मंजु लहरी
फैली हो धरातल में। हिमऋतु निशान्त का
काँपता समीर चला काँपे जीव जग के।



अर्घ्यदान

सप्तर्षि मण्डल किनारे ध्रुव लोक के
जाकर लगा है रजनी के अवसान में,
कवि मन मानस के जैसे भाव रत्न ये;
हारी कवि वाणी, नहीं बाँध जिनको सकी।
बीती अब यामिनी, निमेष यथा तारों ये
लुप्त हो रहे हैं। परिजन के विछोह में
द्रवित सुधाकर की सूखी गिरी किरणें।
श्रीहत मयंक अपरा के श्वेत पट में
आनन छिपा रहा है, किंवा नीर निधि में
पश्चिम दिगन्त के चला है हाय! डूबने
होकर अधीर, धरती को अश्रु जल से
सींचकर, वे ही हिम विन्दु सब ओर हैं
फैले लता, वृक्ष, वनराजि पल्लवन में
गिरि शिखरों में। नत शीश सृष्टि तल है
शोक में निशाकर के, किंवा अंशुमाली का
उदय समीप जान धरती झुकाती है
शीश निज भक्ति से। झुके हैं पद्मसर में
गिरि शिखरों में झुके भूरुह, लतायें हैं
नीचे झुकीं।

आहा ! यह प्राची के कपोल में
अरुण लगा रहा है कुंकुम। दिनेश की
चिर अनुरागिनी चढ़ी है हेम रथ में
ऊषा। दिनमणि का विजय केतु व्योम में
बढ़ता अबाध ज्यों विजय की श्री जगत को
मोद से लुटा रहा है अरुण ! दिनेश के
पथ की मिटी है सभी बाधा; मिटा तम है,
विजयी के यश से विपक्षी मिटते हैं ज्यों
मिट गये तारे, तेजहीन शशि नभ में
काँप रहा भय से कला से हीन देख के
रवि का उदय। सकुची है कुमुदावली
खिल उठी पद्मराजि, शोक में उलूक है
चक्रवाक नाचा हर्ष में हो पंख खोल के
उड़ चला रिझाने चक्रवाकी को पुलक में।
अस्त हो रहा है सोम दिनमणि उदय है,
विधि का विधान यह कैसा एक साथ ही
हर्ष औ विषाद खेलते हैं धराधाम में ?
मिलता नहीं है ठौर तम को गुफा में भी
टिकने का जैसे अपकारी टिकते नहीं।

आहा ! बढ़ी ऊषा रँगती सी अनुराग के
रँग में गगन को कि सोने के सलिल में

बोरती दिगन्त को। प्रभाती देवबाला सी
जागी अब, इन्दीवर नेत्र खुले जिसके,
अरुण वनज बने कर पद तल हैं,
विकसित मालती बनी है देह बल्लरी,
चञ्चरीक राजि अलकावली खुली है ज्यों,
पक्षि कुल कलरव अलाप से जगत को
गिरि, वन, व्योम को सचेतकर, मोहिनी
सज रही स्वागत के हेतु दिनमणि के।
जग को जगाता यथा हिमके प्रभात का
मन्थर समीर चला, मालती पराग को
लोक में बिखेरता, कँपाता पद्मवन को।
हिलती लतायें, वृक्ष राजि सब ओर हैं-
हिल रहीं, काँप कर फूल अविरत हैं
चूते भूमि तलपर पराग गन्ध फैली है।
भौंरे गूंजते जो मधुमत्त सब ओर ये
रवि का विजय गान चारण सुनाते हैं।
शीतवाही मन्थर समीर संग जिनके
काँप कर आप धरातल को कपाँता है।
पादपों के पत्र सिमटे हैं शीत भय से,
पंख को समेट शिखी शीश को छिपाये हैं,
ले रहे जँभाई सिंह देह को समेट के।
शिशिर समीर या की तीर अन्तरिक्ष से

चलते अलक्षित चराचर को बंधते।
हिम विन्दु भूतल से व्योमतल फैले हैं
रवि किरणों हैं बनी शशि की किरण सी
शीत के प्रताप से। क्षितिज में दिनेश है
उठ रहा ऊपर को जैसे नीर निधि से
बड़वानल ज्वाला चली।

तूर्य भोर के बजे।
वीरभूमि आहा! कुरुभूमि जलनिधि सी
ध्वनि पूर्ण सहसा हुयी जो, वीर जाग के
दिनचर्या में लगे, अग्नि अग्निहोत्र की
प्रज्वलित होने लगी, सामगान नभ में
गूँज उठा हविधूम जैसे स्वर्ग लोक की
रचता निसेनी अहा! फैला व्योम तल में
त्रिदिव निवासियों को, किंवा कुरुभूमि की
कीर्ति कथा जैसे हो सुनने चला व्योम को
पारकर यज्ञधूम प्राविट पयोद सा।
वन्दि जन गाने लगे हर्ष ओज स्वर में
द्वार द्वार शिविरों के वीर विरुदावली।
गरज रहा हो सिन्धु जैसे महाध्वनि से
वायु से विकम्पित चलीं हों यथा लहरें
बोरती धरा को, रण भूमि ध्वनि पूर्ण है।

बाजे बजते हैं, कहीं होता वेद गान है
और कहीं इष्टदेव पूजा में निरत हो
स्तुति पाठ सस्वर सुनाते वीर जन हैं।
गज बोलते जो यथा होती मेघ ध्वनि है
हय हींसते हैं दुही जाने के लिये अहा।
गाये हैं रँभाती बोलते हैं वत्स जिनके।
घंटे बजते हैं ध्वनि शंख और है।
जनरव में डूबे पट मण्डप समर के।

कितना कहेगा कवि ? कितना सुनायेगा ?
एक संग आतीं जो अनेक ध्वनि कानों में
शब्द में उतारे कवि कैसे एक साथ ही ?
काव्य के रसिक भारती के भाव लोक में
पायें पंख कल्पना के, और मन्द कवि से
चित्रण में जो कुछ है छूटा उसे आप ही
भावना की आँखें खोल देखें।

हर गिरि सा
हिमश्वेत उन्नत शिविर बसेन का—
नीर में रँगा है यथा सोने के, पड़ीं जो ये
छूट रवि मण्डल से आहा ! अभी किरणें।
विश्वजयी वैरिन्दम कर्ण युग्म हाथों में

सोने का कलश है उठाए, शीश नत है
जल विन्दु चू रहे हैं मोती ज्यों अलक से !
भाल पर, नासिका, कपोल, कण्ठ वक्ष में
फैले सब ओर जलकण देह भीगी है।
स्नान कर आया अभी वीर इष्ट देव के
पूजन के हेतु अर्घ्य दे रहा है रवि को।
सामने शिविर के धरी जो हेमपट्टी हैं
जिस पर पड़े हैं जपा पुष्प, लाल पद्म ये
और अर्चनीय वस्तुयें हैं धरीं विधि से।
हवन हुताशन समीप हेमपट्टी के
जल रहा हेमपात्र में है। होम द्रव्य का
अग्नि देव भोग करते जो रह रह के,
उठती शिखा जो हँसी जैसे अग्निदेव की
उठती धरातल से बलरस देने को
आहा ! दिनमणि को।

दिनेश अन्तरिक्ष में
आगे बढ़ा पार कर क्षितिज प्रदेश को।
घूमता सा जैसे चक्रगति में अरुण का
गोल पिण्ड लालिमा विहीन अब स्वेत हो
भास्कर परिधि में लसा जो पूत किरणें
नाचीं महाभाग वसुसेन के ललाट में,

शीश पर नाचीं, हिला वीर गद्‌गद्‌ हो।
एकटक देखा वीर मणि ने दिनेश को
पद्म नेत्र डूबे अहा! जैसे भक्ति जल में।
आधी मुँदी आँखें मुख मण्डल से मोद की
दिव्य रश्मि माला चली, रवि कर जाल को
बाँधने को जैसे प्रेमबन्ध में कि भक्ति में
होती सी विभोर कामनायें भक्त मन की
पल में समर्पित हुई थीं इष्ट देव को।
युगल चरण जुटे भूतल में सहसा
रक्त परिधान हिला, दोनों हाथ शीश के
ऊपर हिले जो अहा। हाटक कलश से
अर्घ्यधारा नीचे चली जैसे भगीरथ के
पुण्य से चली थीं सुरसरि अधोतल में
गोमुख से आहा! ज्यों अटूट पुण्यधारा सी।
किंवा रत्नमाला वह चाँदी और सोने के
सूत्र में पिरोई गई पद्मराग मणि की
गोमेदक बीच बीच में थे लगे जिसके।
शीश टेक भूतल से हाटक कलश क
छोड़ धरातल पर, उठा जो हाथ जोड़ के
एक पग ठाढ़ हुआ निष्ठा और भक्ति से
देख रवि मण्डल को बोला :—

"हे जगत के
मूलाधार ! पद्मपति ! लोक त्राणकारी हे !
पोषक अकेले इस सृष्टि के, उदय हो
तुमने मिटाया तमतोम धरातल से।
प्राणमयी धरती के प्राण तुम ! पल में
तेज, बल, बुद्धि, और विक्रम के निधि हे !
लोक जो जगा है और कर्म सिद्धिपाने को
कर्म में निरत हो रहा है सो तुम्हारी ही
केवल कृपा से। मिटी आहा। निशा यम की
कर्मवेला आई हे अनादि सखा ! सृष्टि के
कर्म के सनातन हे साक्षी ! अब तुमसे
दास क्या निवेदन करेगा सम भाव से
जीवन का दान तुम देते जीव तल को।
जानते हो अनुचर के मन में बसा है जो
इष्टदेव मेरे इस भूतल में तल क्या
कोई भी कहीं है जो कि छूटे देवगति से ?
चिर विजयी हे ! यह दास पराजय के
भय से विमुक्त रहे जब तक कर में
शस्त्र रहे मेरे। नहीं मानव अमर है,
वरण करूँ मैं मृत्यु आये जब मोद से"।

मौन हुआ वीर किरणों में अंशुमाली की

ऐसे खिला पद्म ज्यों खिला हो देवसरि में,
किंवा खड़े ध्यान मग्न सनत्कुमार हों
ज्ञान की विभूति से मिटा हो भ्रम मन का।
शुद्ध चित अन्तः करण की विभूति में
आनन रँगा हो या कि देव कुल सेनानी
शक्तिधर आहा! खड़े शक्ति की उपासना
करते हों, किंवा मूर्तिमान आप तप हो।
कौशेय केशराशि डोली कण्ठ देश में
और अक्ष माला हिली वक्ष पर साथ ही
फरकीं भुजायें, खुले नेत्र और मुख के
मण्डल से फूटी दिव्य आभा दिनकर के
मण्डल से जैसे बनी मूर्ति यह तेज की।
तप्त हेम द्रव से रचे हैं गये किंवा ये
अंग अंगपति के निरखने में जिनके
अक्षम हैं आँखें।

कुरु वीर हाथ जोड़ के
पंक्ति बद्ध देखते जिसे हैं या कि नेत्रों से
रूप सुधा पान करते हैं नर सिंह की।
घूमीं जब आँखें और देखा वीर वर ने
शस्त्र से सुसज्जित खड़े हैं कुरुदल के
वीर सभी आग्रह से देखते हैं उसको,

बोला मृदु स्वर में :—

"दिनेश की उपासना
सद्यः सफल हुई मेरी बन्धु जन के
दर्शन से आहा ! यह धन्य अनुचर है।
देखता हूँ दिन मणि बढ़े हैं अब व्योम में
शान्त फिर भी है रणभूमि अब तक जो
नित्य रहती है बनी अगम समुद्र सी।
जानते हैं फिर भी विपक्षी सूतसुत की
धर्म और कर्म निष्ठा चिन्ता नहीं मुझको।
याचक जुटे हैं दान कर्म अभी शेष है
चाहूँगा कि आज इस जीवन का दान भी
याचक को दूँ मैं।"

याचकों की जय ध्वनि से
गूँज उठा अम्बर दिगन्त जिस ध्वनि में
डूबने लगा हो। सूत, मागध, विनय से
गाने जो प्रशस्ति लगे आँखें लगीं पृथ्वी से
वीर कुल केशरी की। शील और नय के
भार से विनत शीश दोनों हाथ जोड़ के
मौन जो मनस्वी रहा, फूला देवतरु ज्यों
पुष्पभार से था झुका।

द्रोण सुत मोद में
आगे बढ़ा और स्वर बन्दियों के स्वर में
एक कर बोला :—

"अंगराज! त्रिभुवन में
तुम हो अकेले वृष या कि देव पति हैं
तीसरा नहीं है कहीं कोई जिसे जग में
वृष अभिधा हो मिली। वृष हे जगत के!
वासव बने हैं वृष जैसे वारिवर्षा से
वैसे ही अकेले तुम इस नर योनि में
वृष बने एहे महादानी! जलधारा ज्यों
चलती अजस्र मेघमाला से धरित्री का
ताप मिटता है मिटा वैसे ही भुवन का
रंक ताप, पाकर तुम्हारी दानधारा को।
त्रिदिव निवासी इसी कारण से तुमको
वृष कहते हैं रहे और इस जग में
दानी सदा नाम ले तुम्हारा यही बन्धु हे!
धारण करेंगे असिधारा दान व्रत की।
दान कर्म पूरा करो सारी रात जाग के
वैरी अभी सोच नहीं पाये किसे रण में
भेजें रोकने को तुम्हें, जितने विलम्ब से
रण में चलोगे तुम उपकृत होंगे वे"।

देख कर विस्मय से जैसे हँसी रोक के
बोला बली :—

"विप्रवर ! कैसा ? कहते हो क्या ?
लोकजयी अर्जुन के होते कभी उनको
चिन्ता यह होगी !"

अट्टहास गुरुपुत्र का
फैला एक पल में धरा में और व्योम में
हँस पड़े बन्दी हँसे याचक पुलक में।
यूप रूप बाहु को उठा के लगा रोकने
वीर यह हर्षनाद। बोला धीर स्वर में :—

"गुरुपुत्र ! करते नहीं हैं अवमानना
वीर कभी वीर प्रतिद्वन्दी की इसी से मैं
अर्जुन की निन्दा सुनता हूँ नहीं तुम भी
जानते इसे हो फिर कैसी यह बात है।"

हँसकर बोला द्रौणि "निन्दा नहीं करता
अर्जुन की मैं भी। अभी चर ने सुनाया है
धीर कुरुराज से कि कुन्ती और कृष्ण हैं
रोक रहे अर्जुन को आज दृष्टि पथ में

आने से तुम्हारे और द्रौपदी का हठ है
अर्जुन न रोके तुम्हें तब वह आपही
आयेगी समर में लड़ेगी वीर तुम से।"

कानों पर हाथ धर बोला सुधा वाणी में
अंगराज, "कृष्णा से पराजित सदा हूँ मैं।
सत्य ही जो आये कहीं कृष्णा आज रण में
तब तो उतार मैं धरूँगा शस्त्र भमि में,
कालपृष्ठ भूतल में डाल, वक्ष खोल के
रथ से उतर उसे अवसर दूँगा मैं
पूरी प्रतिहिंसा करे नारी मुझे मार के
वीर धर्म मेरा रहे चिन्ता नहीं प्राण की।
होनी में वितर्क क्या करूँ मैं गति दैव की
जो हो मित्र! याचक अधीर हो रहे हैं ये
आओ इन्हें तुष्ट कर जीवन के फल की
तुष्टि मैं ग्रहण करूँ।"

आगे बढ़ा वीर जो
शिविर समीप द्वार तोरण में झुक के
एक पद भीतर पड़ा जो पद दूसरा
बाहर अभी था, जय ध्वनि अंगपति की
आई शतकण्ठ से घुमाया शीश वीर ने

तोरण के रत्न लगे शीश से ललाट से
और उलझी थी केशराजि मणिजाल में।
क्षीरसिन्धु शायी विष्णु रत्नाकर रत्नों में
उलझ पड़े हों यथा। देखा कुरुराज हैं
कुश और कलश उठाये आप हाथों में,
श्रेणी बद्ध सूत धरे सोने के कलश हैं
कन्धे पर, छत्र और चामर है कर में
विनत सुशासन के, आप कृपाचार्य हैं
देवगुरु जैसे हों उठाये दिव्य औषधी
मणिमय पात्र में श्रुवा है धरी जिसमें
सोने की, मरीचिमाला जैसी मणिमाला है
लोक में अलभ्य कृतवर्मा युग्म कर में
मोद में लिये है जिसे, शकुनी उठाये हैं
औदुम्बर आसन चढ़ा है अहा! जिस पे
हेम जाल जैसा पीत कौशिक वसन है।
हाथ जोड़ बोला बली :—

"आये गुरुजन जो
सेवक को मान देने आप अभिषेक से,
सेवाधर्म लोक में सैदव हिमगिरि से
गुरुतर रहा है और गुरुतर रहेगा भी,
किन्तु हो रहा है अब रण में विलम्ब जो

सोचकर हो रहा अधीर यह दास है।
क्या कहेंगे वैरी रणभूमि अब तक है
सोई पड़ी फिर भी निदेश तो निदेश है
सेवक का तेज, तप, धर्म, बल स्वामी के
केवल निदेश में रहा है। कुरुराज हे!
शीश इस दास का झुका जो सदा आप के
पूज्य चरणों में उसे पूजकर आप ही
चाहते जो उद्धत बनाना हाय! गर्व से,
प्रस्तुत है दास यह विधि अभिषेक की
अब अविलम्ब करो पूरो, रवि साक्षी हों
और काल रण में कृतार्थ यह दास हो।"

आगे बढ़ बोला "तपपूत इस भूमि से
लोक भार धारिणी धरा से बढ़ कर क्या
होता कहीं आसन है अन्य अभिषेक का।
नीचे धरती हो और ऊपर दिनेश हों:—"

वाणी रुकी, पुलक अधीर गनगन सा
काँपा वीर, तुरत निदेश दिया आँखों से
धीर कृपाचार्य ने, धरातल पर वेद के
मन्त्र से गिराया श्रोत्रियों ने जल आप ही
धीर कुरुराज झुका कुश के बिछाने को।

औदुम्बर आसन बिछाया शकुनी ने जो
और फिर डाला पीत पाटम्बर जिस पै
अस्खलित स्वर से सुनाने सामवेद के
उद्गाता मन्त्र लगे, ऋग औ यजुर का
पाठ चला, अध्वर्यु कण्ठ से चली हो ज्यों
वारिधारा पावस के सघन पयोद से।
स्वर भेद सिद्धि के लिये जो कर क्रम से
संचरित होते कभी ऊँचे और नीचे थे
सप्त स्वर मूर्त हो रहे थे पल पल में।
विग्रह के हेतु कृतीकर्म के, समासों का
विग्रह स्वरों में करते थे कृतीजन वे,
लिंग और बचन, विभक्ति वेद विधि के,
सिद्ध हो रहे थे स्वर सिद्धि में कि जिनसे
कर्म सिद्धि पूरी रहे।

विनतानन कर्ण की
आँखें धरती में लगीं, भाल पर रवि की
किरणें लगीं थीं, भक्ति विनय सलिल में
डूबा रहा वीर, देह धारी शान्त रस ज्यों
भक्ति में विलीन उतरा हो भूमि तल में।
नाची हँसी नासिका, कपोल में, अधर में
मोद का सलिल भरा आँखों में, पुलक में

होकर अनस्थिर, सुयोधन ने बढ़ के
हाथ धर चाहा उसे आसन समीप में
लाना, तभी जैसे सहसा हो जगा नींद से
वीर ज्यों चकित और विस्मित सा पल में
देख कुरुराज को, समेट अंग देह के
चरणों में आतुर यशस्वी पड़ा।

मन की
गति को दिखाये कवि कैसे मूक मन से ?
किसने सुना है कब प्राण को हिलाती सी
रागिनी बजी है मञ्जु वीणा की धनुष की
ताँत से, धुनी हो गई रुई सदा जिससे ?
प्रेम से भरा जो मन बन्धन में शब्द के
आता कब ? अनुभव की विधि ही निराली है
वाणी विधि हारती रही है सदा जिससे।
कालपृष्ट धारी महाराघव समर के
सागर का, सेवक का धर्म धन्य जग में
जिसकी महिमा से पड़ा भूतल में, शीश है
कुरुपति के चरणों में वीर जन भूले से
अपलक नयन से निहारते हैं जिसको।
बोला वसुसेन हाथ जोड़।

"सुतसुत की
कीर्ति क्या बढ़ेगी अभिषेक से यशस्वी हे !
हीन जन्मा दास यह वेद के विधान से
पूजित जो होगा धरा लज्जित न होगी क्या ?
अभिजात गौरव टिकेगा कहाँ सोचो तो ?
कुल और वंश का विभव जो कि नर को
पूजनीय अब तक बनाता रहा डूबेगा ।
पूछो पूज्यपाद कृपाचार्य से बतायेंगे,
सुतसुत ज्ञात कुल शील जिसका नहीं
कैसे अभिषेक कहो होगा आज उसका
वेद के विधान से ? विधान यह कैसा है
कैसे भूलते हैं गुरुजन आज इसको ?
कैसे भूलते हैं उस शस्त्र की परीक्षा को
गुरुजन, बनाये गये हीन जहाँ मेरे थे
शस्त्र जो बने थे उसी धातु से कि जिससे
अर्जुन के शस्त्र बने । जन्म के विचार से
अपमानित होना पड़ा, लक्ष्य भेद से भी जो
अधिकार छीना गया मेरा जन्म दोष से
द्रौपदी स्वयंवर में । सोचकर जिसको,
किन्तु व्यर्थ सोचना है कुल और जन्म के
वश में रहा है जहाँ पौरुष जगत का ।
वेदविधि ऐसी ही रही है अब तक जो

आज़ उसे तोड़कर निन्दा अपयश का
भाजन बनूँ मैं, जब जीवन सरिप का
देखता हूँ सूखा अब नीर, पड़ी रेती है ।
शास्त्र और वेद विधि, विधि है कुलीनों की
ग्रहण करूँगा उसे कैसे अकुलीन मैं ?
सेवक के धर्म की अकेली एक विधि है
सेवा में निरत रहे प्राण ले हथेली में
निर्भय हो साधे स्वामि काज तन मन से ।
कुरुराज ! काम नहीं मेरे अभिषेक का ।"

बोले कृपाचार्य "नरसिंह ! आज लज्जा के
पंक में ढकेलो नहीं मुझको यशस्वी हे !
सिद्ध तुमने है किया निश्चय ही नर का
पौरुष है पूज्य, जन्म दोष मिट जाता है
कर्म की विभूति से । मिटाया दोष तुमने
शस्त्र से, दया से, दान, तप और सत्य से ।
वीर मणि और दान मणि इस जग के
तुम हो अकेले वृष । देवता भी तुम से
दान ले चुके हैं महादानी माँगता हूँ मैं
दान तुमसे कि अविलम्ब अभिषेक की
विधि करो पूरी । हीन जन्मा देव ऋषि के
चरणों में शीश झुकते हैं देव पति के ।

ब्रह्म ऋषि कह कर उठाया था वशिष्ठ ने
कौशिक को आप ही उठो हे! क्षत्रि कुल के
गौरव किरीट! जानता है दैव तुमको
कौन जाने क्षत्रिय हो किंवा विप्र अंश से
जन्म है तुम्हारा या कि शाप ग्रस्त स्वर्ग से
भूपर पतित वन्दनीय तुम देव हो,
वसु हो, प्रजापति हो, किंवा लोक पाल हो।
लोक के रहस्य लोक सत्य धर तुम हो।
लोक सत्य धारण करते हैं सदा वेद भी,
शास्त्र विधि मानती रही है लोक सत्य को।
युग धर्म ऊपर रहेगा शास्त्र धर्म के
अन्यथा मिटेगा शास्त्र स्वीकृति से युग की
वञ्चित हो। स्वप्न में भी याचक को तुमने
सुनते हैं विमुख किया है नहीं फिर क्यों
विमुख करोगे मुझे? माँगता हूँ अब मैं
दान अंगराज से दिनेश देखते हैं ये
दानव्रती! दानरूप अब अभिषेक की
विधि को निबाहें और संगर समुद्र में
कौरवों के पोत बन पार करें उनको।
निर्भय सदा है देव सेना शक्ति धर के
आश्रय में जैसे उसी भाँति कर्ण सेनानी
रण में अजेय करें कौरव अनीकिनी।"

कह कर बढ़ाया विप्रवंश अवतंश ने
हाथ और भाव के सलिल में विवश सा
देखा वसुसेन ने, सिहर कर पल में,
शीश को झुका के देवपति देवगुरु के
लेते हो निदेश यथा शीश पर, वीर ने
धर लिया हाथ कृपाचार्य का सहारे से
उसके उठा जो सुधि भूली तन मन की।
एकटक रवि को निहार कर वाणी जो
आई कण्ठतल में अटकती रुकती सी जो
सुन पड़ी :—

"पूज्यपाद मेरे लिये प्राण के
दान से बड़ा है यह दान, जिसे आपने
माँगा अभी फिर भी वितर्क दान में हो क्या?
साक्षी हों दिनेश इस दान के कहा है जो
आपने उसी से धन्य अब यह दास है
पूर्ण काम, कामना के बन्ध सभी टूटे हैं।
हठ करने से मिटता है धर्म दास का
हो चुका समर्पित जो स्वामी के चरण में
लेना ही निदेश उसे होगा सिर आँखों से"

मौन हुआ वीर स्वेद विन्दु कण्ठ, वक्ष में

भाल और नासिका, कपोल पर मोती से
जगमग होने लगे, अश्रु विन्दु आँखों में,
रोकने में तत्पर मुँदी जो मञ्जु पलकें।
वेग था समाया श्वास गति में कि मन की
भावनायें अन्तः करण को हिलाती सी
बाहर बही थीं, गति श्वास की बनी थीं जो।

बोला कुरुराज "मित्र ! कुल और वंश के
ऊपर सदैव पुरुषार्थ अंगपति का
मानता रहा मैं कब आदर में मुझसे
चूक हुई ? किन्तु नरसिंह चिन्ता गत की
तुमको भी होवे तब धीर इस जग में
और कौन होगा ?"

हाथ धर कर कर्ण का
आसन पर लाकर बिठाया अभिषेक के
वीर ने। चली हो यथा गिरि के शिखर से
मन्दाकिनी धारा, चली धारा पूत जल की
हेम कलशों से अभिमन्त्रित सलिल की
शीश पर वीर के, गिरी थीं देवसरि ज्यों
शंकर जटा में। अभिषेक कर जल से
जिसमें मिलाया गया पुण्य तीर्थ जल था,

गजदन्त और रत्न निर्मित कटोरे की
गन्धपूर्ण बलरस दायिनी महौषधी
लेकर पुनीत कृपाचार्य करने लगे
तब अभिषेक, घनसार, मृग मद के
योग से, यशस्वी अश्वथामा करने लगा
वीर अभिसिंचन, ज्यों बालरवि दूसरा
उतरा गगन से, दिखाई पड़ा वैसे ही
तेज पूर्ण वीर वसुसेन । देख जिसको
बोध हुआ, चित्त में बसा है धर्म वीर के,
कर्म में प्रताप, बसी इन्दिरा है आँखों में
वाणी में सरस्वती समाई अहा ! वायु का
वास पुरुषार्थ में हो। चकित नयन से
देखते थे वीर कुरुपक्ष के यशस्वी को ।
पीत परिधान और पीत उत्तरीय का
धारण बली ने किया ; चन्द्रकान्त मणि का
भृत्यजन लाये तभी सिंहासन जिस में
बैठा। कुरुराज ने उठाया हँस पंख सा
किंवा चन्द्रमण्डल सा छत्र, प्रभा पिण्ड सा।
चँवर डुलाने लगा मुग्ध सुशासन जो
चन्द्र किरणें हो गुंथी किंवा सिन्धु फेन हो।
गाने लगे बन्दी यशगान, कृत्वर्मा ने
मणिमाला डाली जब कंठ में पुलक से।

भाल पर तिलक लगाया कृपाचार्य ने
सामगान गूँजा, स्वस्ति पाठ चलने लगा।
श्रेणी बद्ध याचकों को दोनों हाथ खोल के
देने लगा दान वीर जैसे सिन्धु तट का
नीर हो उलीचता लुटाता रत्न राशि था।
याचना के पहिले ही निधि से अघाते थे
रंक जन। चाँदी और सोना रत्न वर्षा सी
हो रही थी, धेनु, पट, अन्न, फल दान था।
याचक के गुण, कर्म, कुल और शील की
सूचना भी चाहता नहीं था वीर देने में।
तपहीन, विद्याहीन, निर्गुण मनुष्य भी
संशय विहीन दान ले रहे थे, मेघ क्या
करता विचार कभी ऊसर, सरित का
जल वर्षा में ? दान व्रत में यशस्वी के
मन में न आया भाव पात्र या कुपात्र का।
देखा नहीं याचक की ओर भूल कर भी
दान के व्रती ने दान द्रव्य में समाई सी
आँखें भी लुटा रहा हो जैसे। भर भर के
द्रव्य पात्र ला रहे थे भृत्य मधुचक्र में
जैसे मधु माखी है सँजोती मधुरस को
जाने कितने वे कर दान द्रव्य ढोते थे
यन्त्र में कसे से एक गति एक क्रम से

फिर भी न संचित था होता वसुसेन के
दो कर लुटाते उसे जैसी त्वरा कर के।
रंक जन तुष्ट हुए चारों ओर भूमि पै
स्वर्ण और रत्न धन फैला जिसे लेने की
कामना किसी को नहीं।

याचक विनोद में
एक दूसरे से कहते थे " अरे! देखो तो
भूपर गिरा रहे हो रत्न द्रव्य, रुक के
ले लो इसे भाई" ! किन्तु दूसरा तुरन्त ही
छूटता सा कहता है "ए हो। तब वृष के
याचक बने क्यों जब दान भार ढोने में
तुम हो समर्थ नहीं, जाते ठौर दूसरी
दानी जहाँ देता एक मुट्ठी तुम्हें देखके।
याचकों की जय ध्वनि से गूँजा व्योम, धरती
हिल उठी, जैसे चेत आया लगा देखने
चारों ओर शशि को घुमा के कहीं कोई भी
याचक नहीं था वहाँ, जैसे तुष्टि तप की
ज्ञान या विवेक की मिली हो, खिलीं आँखें वे
पुण्डरीक जैसे दो खिले हों बाल रवि की
किरणों में।

हाथ जोड़ अपलक नयन से
रवि को निहार कर बोला "कर्म पूरे हैं,
पूर्णकाम अनुचर तुम्हारा कुरुराज ! है
अब अविलम्ब चलें देखें रणभूमि में
युद्ध कला वैरियों की । पुण्यपर्व आया है
आज इस जीवन में अर्जुन जो रण में
आवे रोकने को मुझे अनुचर कृतार्थ हैं ।
तब तो ।"

"मिली है मुझे सूचना कि रण में
आ रही है कृष्णा आज वीरमणि तुमको
रोकने को रण केलि में ही आज उसके
दुर्निवार शस्त्र तुम्हें सहने पड़ेंगे वे ।"
बोला कुरुराज हँसी रोकने में दाँतों के
बीच में समाया ओठ ।

शीश को हिलाता सा
बोला बली " तब तो विजय पाण्डवों की है ।
कृष्णा की मनस्विता से किंवा दैव गति से
आये कहीं सत्य ही जो कृष्णा आज रण में
फिर भी रहेगी यह सृष्टि पर होनी की
चिन्ता करते हैं कहाँ वीर जन जग के ?"

सिंहासन छोड़ उठा बोला धीर स्वर में
"भेजो फिर राज दूत शत्रुओं का भेद लेने को
आता अभी मैं भी हूँ शिविर में तुम्हारे ही
शस्त्र भर ले लूँ।"

वीर मणि हाथ जोड़ के
कुरुपति को और गुरु पुत्र कृपाचार्य के
चरणों में शीश को झुका के, देवपति हों
जैसे झुके देव गुरु और देव ऋषि के
चरणों में, हर्ष में अधीर धर बाहों में
विनत सुशासन का आलिंगन करके
आगे बढ़ा। नत शीश मण्डप में पटके
जाकर समाया, अन्य जन कुरुराज के
संग चले।

शस्त्र से सजे हैं पाण्डु दल के
वीर सभी। रत्न मुकुटों से यथा रवि की
किरणें निकलती हैं, दुर्निवार तेज से
दीप्त हो रही है तट भूमि रणभूमि की।
धनुष, निषंग, असि, तोमर, परिघ से,
पाश से, गदा से, दृढ़ वर्म से तलत्र से
वीर सजे, रोष और हर्ष की तरंगों में

डूबते हैं जैसे कभी और उतराते हैं।
घूम रहे देखते कभी हैं शिविरों को जो
और रणभूमि, कभी फेरते धनुष को
हाथों में। नचाते कभी ऊपर गदा को हैं।
उछल रहा है कहीं कोई जानु वक्ष में
ताल मार सिंहनाद कोई कहीं करता।
हँसता है कोई अट्टहास करता हुआ।
नाना विधि वीर हैं अधीर रण रङ्ग में
हो रहा विलम्ब रवि ऊँचे चढ़े व्योम में।

सात्यकी के संग धृष्टद्युम्न एक ओर है
अविचल नयन से निहारता शिविर को
अर्जुन के, जिसके समीप वीर दोनों ही
वीर वेश में हैं खड़े। कान लगे दोनों के
सुनने को बातें हो रही हैं जो शिविर में।
भौंहें तनी, तर्जनी लगी है धृष्टद्युम्न की
ओठों से, सटा है सात्यकी का कण्ठ कन्धे से।
मन्द स्वर पड़ता सुनाई धर्मराज का
अर्जुन की धीर ध्वनि, रोष ध्वनि भीम की
रह रह के आती, हँसते हैं कृष्ण सुन के
व्यंग्य और ग्लानि भरी वाणी याज्ञसेनी की।
मूर्तिवंत मौन वीर तनय हिडिम्बा का

बैठा टिकी आँखें जिसकी हैं भूमितल में ।
भौंहें तनी, पलकें तनीं हैं देह भर में
रोम खड़े, भाल पर रेखा बनी रोष की
स्वेद बिन्दु छाये मुखमण्डल में कण्ठ में ।

बोली तभी कृष्णा "वासुदेव यही हठ है
मेरा यदि अर्जुन न जायेंगे समर में,
निश्चय ही जाना मुझे होगा कालरण में
देखूँगी कि कैसा बली अधिरथ तनय है ?
जिससे डरे हैं पति मेरे डरे तुम हो ?
अब क्या पराजय में शेष ? कहो मन से
हारे जिससे हो तुम शस्त्र से भी हारोगे।
मन से पराजित पराजित है रण में ।
शस्त्रबल काम नहीं आता मनोबल से
हीन हो, अकेला मन जीत या कि हार का
कारण है होता। अब लाभ क्या वितर्क से ?
कृष्ण हँसने का नहीं रोने का समय है
आज यह । देव, नर, दैत्य रण विजयी
गाण्डीव धारी जब हारे सूतसुत से
भय से पराजित हुये जो बिना देखे ही
उसको समर में, धरा में है अडिग क्या
बोलो ? मानदण्ड, हिला आज धरती का है ।

सत्य, तप, बल, कीर्ति धर्म कहो किसकी
महिमा रहेगी भवभूमि में ? अभागिनी
व्यर्थ ही प्रगल्भ बनती हूँ भला शब्द से
कायर बने हैं कभी वीर, जो कि आज वे
नारी के विराग से बनेंगे वीर पल में।"

काँपती हो जैसे विष उगल भुजंगिनी,
आहत हो किंवा बिधी सिंहनी हो शर से
लोटती धरा में, मर्म हाथ से दबाती सी
अंगों को समेट पड़ी भूतल में द्रौपदी
फैली अलकावली धरा में, शीश जिसमें
छिप गया किंवा शशि डूबा तम सिन्धु में

मद दन्ति आकुल हो जैसे दवानल में
बिटप उपार, गिरिशृंग भग्न करके
देह सुधि भूले, घटोत्कच देह सुधि को
भुल कर वैसे ही उठा जो बन्ध वर्म के
तड़ तड़ टूटे, देह फूली, मद धार ज्यों
कुञ्जर कपोल से चली हो चली वैसे ही
स्वेद धार वीर के कपोल, भाल, कण्ठ से,
वेगवती साँस हुई अंग हिलने लगे।
फरके अधर, भुज, आँखों से लपट सी

फूट चली दग्ध सा विकल वीर बोला यों।

"डरता रहा हूँ कहीं भूल से भी मुझसे
मर्यादा टूटे यदि छेड़ गुरुजन की
बात जो मुखर बनूँ, चाहता क्षमा हूँ मैं
छोटे मुँह बात बड़ी आये कहीं फिर भी
आर्त हूँ मैं संयम विवेक आर्त मन में
रहता नहीं है। मुझे रोका जननी ने था
बोलने से अधिक नहीं तो गुरुजन की
होवेगी अवज्ञा हाय! अन्यथा नहीं तो क्या
राजरानी माता जो कि मेरी भूमि तल में
ग्लानि से गिरी हैं, मैं अभागा खड़ा देखता
उनकी व्यथा को? अब तक वसुसेन का
लोटता न होता यदि शीश भूमि तल में
निश्चय ही जननी जनक का कलंक मैं
डूबा आप होता रक्त सरिता में रण की।
सेवक ढिठाई करे कैसे गुरुजन से
जिनके निदेश और पुण्य से बली है जो?
किन्तु, अब संयम की सीमा इस दास की
पार हुई, और कहता हूँ मैं अकेले ही
जा रहा हूँ वैरियों के शोणित से भूमि कण
प्यास को बुझाने उस धन्वीकर्ण रिपु का

शीष काट कन्दुक बनाता अभी लाता हूँ ।"

आकुल जो वीर बढ़ा और द्रौपदी के जो
चरणों में शीश टेक रोष रस पीने में
काँपा बली, बालक सा रोने लगा पल में ।
अंग अंग देह के हिले वे भूमि कम्प में
हिलते हैं भूधर के भूरुह शिखर ज्यों ।

कृष्णा उठी और उसे अंक से लगाती सी
बोली "वत्स ! निर्भय बनी हूँ तुम्हें देख के
लोक में नहीं है कहीं कोई जो कि तुमसे
रण में टिकेगा बली बल से तुम्हारे ही
आज हत होगा वसुसेन पाण्डु पुत्रों का
संकट टलेगा जानती हूँ पर फिर भी
चित्त चाहता है नहीं भेजूँ तुम्हें रण में ।
जननी तुम्हारी सती दानवेन्द्र बाला ने
पुत्र मोह छोड़कर भेजा तुम्हें रण में
पतिव्रत निबाहने को धन्य सती धर्म है
पाऊँ यदि चरणों में शीश धरूँ उनके ।
पूजनीय जननी तुम्हारी पूजनीया हैं
मेरे लिए । दानवी ने मानवी को धर्म की
महिमा दिखाई वत्स ! मेरा अब धर्म है

उनके धरोहर की रक्षा करूँ प्राण से।
नेत्र पुतली सी पुत्र तुमको बचाऊँ जो
तब तो निबाहूँ जननी का धर्म आज मैं।
जानते नहीं हो लोक विजयी जनक के
रहते ही मारा गया हाय ! अभिमन्यु था
पांडुकुल दीपक बुझा था दैव गति से।
कृष्ण ने हटाया पार्थ को था उस दिन भी
ऐसे ही समर से हटाते आज जैसे हैं।
अर्जुन के प्राण रखने को बासुदेव ने
वंश ही डुबाया हाय ! जानती नहीं हूँ मैं
जीवन का मूल्य क्या अधिक है मरण के
मूल्य से कि जीना अभी चाहते हैं पति ये
मेरे, धरती का सुख भोग और लेंगे क्या ?
वंश को डुबाया जब डूबे सब साथ ही।
शेष अब क्या है जिसे पाने के लिये कहो
वीर धर्म बोरते हैं ? आज वसुसेन से
अर्जुन लड़ेंगे या लड़ेगी फिर द्रौपदी,
कूट नीति कृष्ण की न आज चल पावेगी।
दैव का विधान जानती हूँ नहीं फिर भी,
दायें हो कि बायें दैव एक भाव से ही मैं
ग्रहण करूँगी उसे आज इस जग को
देखना मुझे है हीन पार्थ या कि कर्ण से।

धरती डिगे जो, रवि डूबे तम राशि में,
सिन्धु सूख जाये, मेरु चाहे मिले धूलि में,
देव धरती में गिरें और धरा हाय रे!
जाकर समाये रसातल में धरा है जो
हठ हा! अभागिनी न छूटेगा देह में
जब तक हैं प्राण यह।"

आसूँ चले मर्म को
पार कर। लोहित थीं आँखें लाल मुख था,
भृकुटी चढ़ी थी दाँत काटते अधर थे,
फैले रन्ध्र नासिका के, घूम कर देखती
अग्नि की लपट फेंकती सी जो शिविर में
कृष्णा उठी।

सस्मित बदन कृष्ण बोले यों,
"याज्ञसेनी हठ से तुम्हारे, या कि मेरे क्या
अर्जुन के हठ से, कि देव धर्मराज के
किंवा भीमसेन के रुकेगी गति दैव की?
पुरुष बली है नहीं, काल बली होता है
कर्म करते हैं सभी किन्तु फल भोग के
भाजन क्या होते हैं समान जन जग के?
अभिमन्यु मारा गया विधि के विधान से

रोकने की शक्ति किसमें थी कहो उसके ?
मृत्युजयी भीष्म गति रोकने में मृत्यु की
सफल रहे जो सदा वे भी गति दैव की
रोक जब पाये नहीं, और बाण शय्या में
मृत्यु की घड़ी को गिनते हैं, जो समर में
अडिग बने ही रहे भृगकुल केतु भी
जिनको डिगा न सके, नाम वीर जन में
लीक जिनका है सदा, रोम खड़े होते हैं
भृगुपती के नाम से समर यज्ञ जिनके
भूलेंगे कभी क्या इस जग के निवासी •जो
अब मैं सुनाऊँ ? धन्य होता वीर कुल है
ध्यान कर जिस भृगुराम का समर में ।
वीर हीन धरती हुई थी जिस वीर से,
शस्त्रधर सामने न आया कभी जिसके ।
कोप के कृशानु में जलाया कार्तवीर्य को
जिस रणधीर ने धनुष की श्रुवा से था,
पितृ कुल तृप्त करने के लिए रण में
तर्पण करता जो सदा आया रक्तधारा है
अब भी स्यमन्तक में कुंड रक्त के हैं वे,
भृगुपति थी कीर्ति कथा जग को सुनाते जो ।
क्षात्र तेज जग से मिटा के ब्रह्म तेज की
जिसने प्रतिष्ठा अरे ! की थी शस्त्र बल से ।

अन्त में निवारित हुई थी शक्ति जिसकी
जिस अपराजित से वे ही देवव्रत हैं
काल के अतिथि दुर्निवार दैव गति है।
द्रोणाचार्य मारे गये वीर विश्व विजयी
रण में गिरे हैं क्या बताऊँ तुम्हें कितने ?
जानती हो तुम भी तो हठ से बनेगा क्या ?
दैव के अधीन नर लीला नर लोक की
चलती रही है सदा, जीवन मरण में,
जय या पराजय में, यश अपयश में,
नियति प्रधान रही। दैवगति भूल के
नर कामना को या कि पौरुष को नर के
मूल शक्ति मानो, फिर तब तो कहूँगा मैं
पौरुष में और मनोबल में अडिग है
कालपृष्ठ धारी। विश्व विजयी समर में
आज है अकेला दुर्निवार शक्तिधर भी
या कि आप वज्री भी न रोक उसे पायेंगे।
कूटनीति कहती जिसे हो मैं विजय की
नीति मानता हूँ, उसी नीति से समर में
विजयी बने हैं सुत पाण्डु के अकेला है
वसुसेन। होगा हत निश्चय ही वह भी
आज उसी नीति से। परन्तु यदि सत्य ही
मुझसे हुआ हो अपकार क्षमा चाहूँगा।

कहते विपक्षी यही मेरी कूट नीति से
पांडव जयी हैं बने और आज तुमभी
दे रही मुझे हो वही दोष । दैवगति है
देखो यही जिससे समान अपराधी जो
शत्रु और मित्र मानते हैं मुझे साथ ही।
काल और कर्म के विवश जीव गति है
इस जगती में । दिन रात यथा क्रम से
आते हैं सदैव अवरोध इनका नहीं
वैसे ही नहीं है अवरोध दैव गति का।
पांडवों के हित में विरोध बलराम का
मैंने किया सारा यदुबंश एक स्वर से
कौरवों के पक्ष में हुआ था जो सुधर्मा में
फिर भी अटल मैं अकेले रहा सोच के
शक्ति दम्भ भारत से मुझको मिटाना है।
आत्म बल हारता रहा जो शस्त्र बल से,
जड़ के अधीन सदा चेतन बना रहा,
तब किस आशा से मनुज भव लोक में
धरती के ऊपर नयन भी उठायेगा ?
सत्य हो कि नीति हो उसे ही मानता हूँ मैं
जन मन रंजन कि जिससे भुवन में
वैरी बलहीन बनें मित्र बलशाली हों।
फिर भी हुआ हो अपकार स्वप्न में भी जो

मुझसे तुम्हारा, धर्मराज सब जानते
भीमसेन जानते हैं और धनञ्जय भी
शत्रु मित्र जानते सभी हैं।"

गुहा गिरि से
रुद्ध ज्यों समीर चला जैसे अवरोध के
हटने से, बोला भीमसेन वज्रघात से
भूधर अनस्थिर हो, किंवा जल निधि में
लहरें चलीं हो, कण्ठ तल को हिलाते जो
शब्द चले, साँस में समीर परिताप का
चलने लगा हो यथा सूखा कंठ पल में।
आँखें रतनार मुख मण्डल में रोष की
मुद्रा लसी दारुण ललाट में विषाद की
रेखा पड़ी।

"वासुदेव! जीवन की कामना
जिसकी बनी हो अभी रोको उसे रण से
कर्ण से बचाओ उसे राजभोग लेने को।
अर्जुन को रोको और रोको धर्मराज को
सहदेव नकुल रहेंगे राज्य भार क्या
चार से चलेगा नहीं? जीना नहीं चाहता
अब मैं मुहूर्त भर चाहते हो रण में

भेजना घटोत्कच को सम्भव नहीं है जो
जीवित हूँ जब तक। अमोघ दैवगति है
कहते तुम भी हो फिर कैसे मैं तनय को
भेजूँ काल मुख में ? सुधीजन जगत के
क्या कहेंगे सोचो तुम्हीं ? स्वार्थ साधना में जो
भेजें कालरण में हिडिम्बा के तनय को ?
यौवन के मद में बनाया जिसे प्रेयसी
और फिर छोड़ दिया कुल के विचार से
हाय रे ! अभागा यह पापी भारभूमि का
अब तक बना है, धरा फटती नहीं है जो
ठौर इसे देती पाप टलता जगत का।
होती है नहीं क्या कहो वेदना प्रसव की
दानवी को ? या कि पुत्र मोह नहीं होता है ?
स्वप्न में भी आया नहीं राजसुख जिसके
राज महिषी भी नहीं होना हीन जन्म से
जिसको कभी है, वनवासिनी का वन में
एक ही सहारा यह पुत्र है इसे भी जो
हठ कर काल के हवाले करूँ तब तो
खोज कर हारोगे अधम मुझ सा नहीं
पाओगे धरा में। पुत्रशोक सा विषाद क्या
होता दूसरा है ? मणि हीन फणिधर को
देखा किसने है कब जीते ? शिलातल में

मार मार शीश मरता है विष फेंक के।"

गनगन दिगन्त भूमि जैसे उन्माद में
डूबी जा रही हो पल, विपल, निमेष में
डूबता सा वीर बढ़ा दानव तनय को
बाँहों में समेट बोला :—

"वत्स ! तुमको नहीं
राज भोगना है लौट जाओ वनवासिनी
माता के समीप पुत्र ! आँखें बिछीं जिसकी
पथ में तुम्हारे।"

मर्मभेदी शर वीर को
जैसे लगा, व्याकुल पिता के बाहुबन्ध से
सहसा अलग हुआ। आँखें चक्रगति में
घूमीं सब ओर। दव ज्वाला में घिरा हुआ
भय से सहम के मृगेन्द्र देखता हो ज्यों
फरके अधर पुट, नासा, चढ़ी भृकुटी,
रोम रोम काँपा भय विह्वल सा पल में
बोला हो अधीर :—

"फिर अब तो विवश हो
एहे यदुपति! पुण्य चरणों के बल से
आपके अवज्ञा करता हूँ मैं जनक की।
जननी ने आग्रह से भेजा मुझे रण में
दानव बनेचर क्या जाने मर्म धर्म का?
कहते जनक हैं कि लौट अब जाऊँ मैं।
और यदि चाहते नहीं हैं जो जनक ये
संग मुझे लेना अधिकार हाय! सेवा का
मेरा छीनते हैं, इन्हें कैसे मैं पिता कहूँ?
सम्भव है लज्जा इन्हें आती देख मुझको,
पुत्र मानने में मुझे होता अपमान है
गौरव का इनके, नहीं है चाह मुझको
पुत्र इनका मैं बनूँ सुयश कमाने को।
जननी के बल से अकेला बली दास है
अंक से लगा के मुझे यश के सलिल से
शीतल जो होती रही, गर्व बोध जिसको
मुझसे मिला है। उसी माता की शपथ है
पूरी मैं करूँगा कामना जो आज उसकी।
मृग मारता है ज्यों मृगेन्द्र खेल करते
वैसे ही करूँगा वसुसेन बध आज मैं।
गुरुजन ये मेरे यदि रोकने चलेंगे जो,
शत्रु सम इनका निवारण करूँगा मैं।"

शस्त्रों को उठाया बली दानव ने पल में
दायाँ हाथ ऊपर घुमा के काल दंड सा
पल मारते ही गया बाहर शिविर के।
चित्र में लिखे से गतचेत भीमसेन थे,
कृष्णा धरती में गड़ी, जैसे धर्मराज के
आनन में भय और विस्मय की छाया थी।
कण्टकित रोम और सजल नयन थे
अर्जुन के, मन्द मुसकान अधरों में जो
कृष्ण के बसी थी, सुधा जैसे शशितल की
मृतक सँजीवन सी आई भूमि तल में।

